मैत्री के स्वर



वियत कविताएं

मैत्री के स्वर

*

सोवियत कविताएं

*

मास्को • प्रगति प्रकाशन
१९८०

संकलनकर्ता: शौकत नियाजी
अनुवादक: रामनाथ व्यास 'परिकर'
चित्रकार: गेओर्गी क्लोत्त

*

ГОЛОСА ДРУЗЕЙ
Стихи советских поэтов
на языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

Г $\frac{70403-420}{014(01)-80}$ 617—80 4701000000

अनुक्रम

प्राक्कथन

प्रस्तुत संग्रह में पच्चीस सोवियत कवियों की रचनाएं संकलित हैं। इनमें से अधिकांश कवि सोवियत संघ के पूर्वी जनतंत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अपने लघु कलेवर के बावजूद यह संग्रह भावों से भरपूर तथा अभिव्यंजना से ओत-प्रोत है। पिछले वर्षों में एशियाई व अफ़्रीकी जगत के कवियों के पारस्परिक मैत्री सम्बंध अधिक प्रगाढ़ हुए हैं। इन महाद्वीपों के अनेक देशों की यात्रा के दौरान हमारे सोवियत कवियों को प्रगति, मुक्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्षरत उनकी जनता के साहित्य एवं संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिला।

इसी तरह हमारे एशियाई व अफ़्रीकी मित्रों को सोवियत संघ के जनतंत्रों की यात्रा के माध्यम से समाजवादी देश में सृजित काव्य से परिचित होने, जनता के स्वप्नों को चरितार्थ होते देखने व यह अनुभव करने के अवसर प्राप्त हुए कि सोवियत काव्य कितना समृद्ध और विविध है, हमारे विशाल देश में किन स्वरों का गुंजन हुआ है और स्वतंत्र जनता की सिद्धियों की कीर्ति गानेवाले इन स्वरों में कितनी समेकता है।

यह संग्रह मुख्यतः सोवियत संघ के पूर्वी जनतंत्रों के विख्यात कवियों से परिचित कराता है तथा इसका आभास देता है कि उनकी जनता कितनी प्रतिभावान है। यह समस्त स्वाधीनताप्रेमी जनों की ओर बढ़ाया गया सच्ची मित्रता का हाथ है! यह मैत्री और शांतिपूर्ण श्रम की महिमा का गीत है, जो शांतिप्रिय मानवता के हित में तथा आक्रामक व शोषक शक्तियों के विरुद्ध गूंज रहा है।

विगत युगों के शिरोमणि कवियों के उत्तराधिकारी सोवियत कवियों ने विश्व काव्य-निधि में प्रेरणादायी योगदान किया है और एक ऐसे काव्य-नायक का सृजन किया है, जो स्वतंत्र जीवन का निर्माता है और जिसने अपनी मातृभूमि का कायाकल्प करने, प्रकृति की स्वच्छंद शक्तियों पर विजय पाने और अंतरिक्ष की ओर अग्रसर होने का बीड़ा उठाया है।

सोवियत कवि सच्चे अंतर्राष्ट्रीयतावादी हैं। जब वे अपने देश के सौंदर्य

Scanned with OKEN Scanner

व अपनी परिश्रमी जनता के पराक्रम की प्रशंसा करते हैं, तो इससे उस प्रगाढ़ मैत्री के भाव ही छलकते हैं, जो सभी देशों की जनताओं को एकता के सूत्र में पिरोती है। उनके काव्य में सोवियत जनता द्वारा अपने विदेशी मित्रों को, जो आज दमनकारियों से लोहा ले रहे हैं और एक नवीन जीवन पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, प्रदान की जानेवाली मैत्रीपूर्ण सहायता का विचार निरंतर गुंजित होता है।

उनके काव्य में प्रकृति के सम्पूर्ण सौंदर्य और शक्ति का चित्रण हुआ है, अगाध प्रेम, मैत्री व बंधुत्व की अनुभूतियां व्यक्त हुई हैं और पराक्रमी श्रम का यशगान हुआ है।

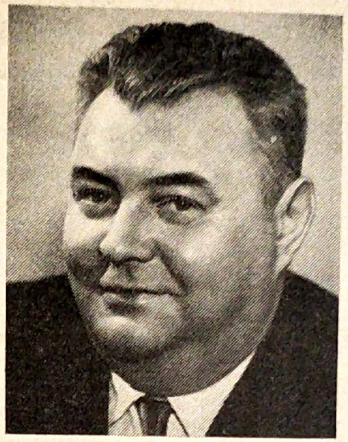
सोवियत काव्य का स्रोत समाजवादी व्यवस्था है। इस काव्य की मूलधारा एक है यद्यपि वह अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त हुई है। इसका उत्स जनता के मौलिक हितों में निहित है तथा उसी को वह अपनी प्रेरणा और अपना समस्त सृजन समर्पित करता है।

इस काव्य से मानव को परस्पर प्रेम व आदर भाव रखने, निर्भय व साहसी बनने, मातृभूमि एवं प्रगतिशील समाजवादी विचारों के प्रति सदैव निष्ठावान बने रहने तथा विश्व में शान्ति की रक्षा के लिये उद्यत रहने की सीख मिलती है।

यही कारण है कि यह लघु काव्य-संग्रह उस वास्तविक काव्य-ज्योति से प्रदीप्त है, जो भविष्य की ओर हमारे पथ को सदा उजागर करती है!

निकोलाई तीखोनोव

* अनातोली सोफ़्रोनोव (जन्म १९११) *



अनातोली सोफ़्रोनोव उस पीढ़ी के रूसी कवि हैं, जिसका साहित्य के क्षेत्र में आगमन चौथे दशक के अंतिम वर्षों में हुआ था। प्रथम काव्य-संग्रह से ही उनकी प्रौढ़ प्रतिभा के दर्शन होते हैं। वह काव्य साहित्य में सर्वथा मौलिक विषयवस्तु लेकर आये। उन्होंने दोन के कज़्ज़ाकों के नये जीवन का महिमागान किया।

महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के दौरान अनातोली सोफ़्रोनोव एक सैनिक पत्रकार थे। पत्रकारिता के साथ-साथ उन्होंने अपनी काव्य-रचना भी जारी रखी। उनकी कविताओं में जीवन का सत्य और दैनन्दिन जीवन में महान तत्व ढूंढ़ने की अनोखी योग्यता झलकती है।

युद्धोत्तर काल में सोफ़्रोनोव की कविता में शान्ति तथा एशिया व अफ़्रीका की पराधीन जनताओं के स्वातन्त्र्य संघर्ष जैसे विषयों को प्रमुखता प्राप्त हुई। सोफ़्रोनोव के काव्य में गीतिका को भी उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है (१९६६ में प्रकाशित उनका काव्य-संग्रह 'सब शुरू होता है तुझ से')। इसके अलावा सोफ़्रोनोव एक कुशल नाटककार भी हैं। 'एक नगर में'

और 'मास्कोवासी का चरित्र' नाटकों के लिए उन्हें राज्य पुरस्कार प्राप्त हुए हैं।

अनातोली सोफ़ोनोव 'ओगोन्योक' पत्रिका के प्रधान सम्पादक व सोवियत लेखक संघ के प्रबंधक मंडल के सदस्य और अफ़्रीकी-एशियाई लेखकों की एकजुटता की सोवियत समिति के उपाध्यक्ष हैं।

*

सब शुरू होता है तुझ से:
हर दिवस, मेरा हर विचार,
और उषा कौंधाती किरणों से
जो आती है खिड़कियों से
वसन्त के साथ –
सब शुरू होता है तुझ से!

कहीं भी क्यों न होऊं, चाहे किसी भी देश में,
लोगों के बीच अजीब-अजीब,
जो उठाते हैं जटिल बातों की भीत –
तुम हो मेरे साथ... और तुम्हारी निगाहें
बेहिसाब मधुर और स्नेहसिक्त,
जैसे हमेशा से थीं वे मेरे साथ –
वैसे ही अनश्वर और अपरिवर्तनशील।

सब शुरू होता है तुझ से:
सर को ही ले लो तुम मेरे,
सफ़ेद बाल, पर लबालब भरा है तुझ से –
वहां बस एक तू है, सिर्फ़ तू!
दुखी है मेरे दुखों में तू,
हर्षोल्लसित है मेरे सुख में तू –
सब शुरू होता है तुझ से!
उतार-चढ़ाव रागों का –
जब मैं प्रकाश देख न पाता!

ग्रंकित हैं तेरे हाथों से
मेरे मरण और मेरे पुनर्जन्म सारे।
सत्ता जो सिर्फ़ तेरे हाथों में है–
कैसा सौभाग्य कि वह एक अकेली है!
यह दिन और यह नील आकाश–
सब शुरू होता है तुझ से
और सबकी इति तेरे साथ!

*

बिना तुम्हारे धरती लगती सारी सुनसान,
और तुम्हारे बिना लग रहा सागर रेगिस्तान।
स्वर्ग भी मुझको लगता ऐसा उदासीन, वीरान
कि देख उसे होता है शर्म का भान।

अगणित लोग जमा हैं मेरे चारों ओर सुजान,
लगते हैं बहुत से भले भी, मेरा यही निदान।
फिर भी अपने को पाता हूं मैं तुच्छ इन्सान,
यह सब बिना तुम्हारे मानो लुटा हुआ सम्मान।

पर हैं शब्द और उड़ते बेतार ईथर में,
कड़कड़े कागज़ों पर, पंक्तियों में फैले हुए...
और यादें हैं... और सुनहरे क़िस्से,
जिससे हृदय बन्धा पड़ा है कसके।

सुधियां लौट-लौट आती हैं प्रिय अनंत अम्लान,
वर्षा और वर्ष भी जिनसे हटा न पाये ध्यान।
काल और गिरिशिखरों से भी ऊंचा जिनका मान–
बिना तुम्हारे धरती लगती सारी सुनसान।

*

शीतकालिक...

उस शाम
जब मैं उड़ कर जानेवाला था भारत को,
उर में कंपन सा हुआ
वायुयान गर्जन से–
त्वेरस्कोय बुलेवार में
लाइम वृक्षों पर ओस जमी हुई थी
और पुश्किन की मूर्ति
रजत किरणों में नहा रही थी।
'इज़्वेस्तिया' की छत पर विज्ञापन
चल रहे थे श्वेत रंग के
मानो सर्दी लग गयी
शब्दों को...
मास्को के सूचना-पटल
पढ़ते-पढ़ते
गोर्की पथ से
चला मैं घर को।
राहें जाती थीं आगे, और आगे–
अनजाने जलवायु को,
रूसी शीत से
भारतीय वसन्त को...
मृत्युपर्यन्त निष्ठा रखे
मातृभूमि में अपनी,
हिलाया था हाथ मैंने
स्वदेश की ओर
कि फिर मिलेंगे!
और यान ले चला
मुझे नभ में
और यह था–
फ़रवरी का मध्याह्न

फ़रवरी का आकाश,
फ़रवरी हिमवान!
इसके बाद मैं रहता हूं वहां,
जहां हरे रंग के तोते
उड़ते रहते हैं झुंडों में,
ज्यों हमारे यहां चिड़ियां,
और वहां पर मोर केकाध्वनि करते,
मेरे सपनों में विघ्न डालते।
...यदि जीना हो साये में–
सचमुच ही मजा है,
तो देखो इन मसख़रे बन्दरों को
जो गालों में मूंगफली भरे।
धूप से बचने के लिए
लगाओ छतरियां
अथवा
सिर पर रखे टोप घूमो।
कमी नहीं यहां सैलानियों की
जो पीते व्हिस्की,
बड़बड़ाते, बिगड़ते...
कैसे उन्हें संतुष्ट करें?
फिर देखकर
इतने हंसते हैं कि
बल पड़ते पेट में,
जब छोटे-छोटे छोकरे
मांगते हैं
बख़्शीश।
पर ये सैलानी
भावी जीवन हेतु
नाकाम हैं–
चाहे हों भव्य कारें अपनी उनकी
और डालरों की झंकार ही क्यों न हो!

लाखों लोग नींद से जागे हैं,
पुनर्जीवित हुए हैं,
टूटी है एशिया की सुदीर्घ
चिरनिद्रा।
सारी चालें,
प्रलोभन
और संधियां ज्ञात हैं यहां–
व्यर्थ है पैबंद लगाना
साम्राज्यवादियों के
फटे कुरते पर,
कोई भ्रमित होगा यहां,
आशा यह बेकार है–
गर्जन कर उठा है,
मचल पड़ा है
विरोध का समुद्र, उमड़ चला है!
स्पष्ट है सब
इस हाथ मिलाने से,
इन बिल्कुल बेगाने लोगों की
मुस्कुराहटों से:
"रूसी हो न?"
–"मास्को के?"
–"रूस के?"
यह अच्छा लगता है,
सभी पुष्पों से सुन्दर!
तो फिर
इस सुदूर उड़ान का
क्या हो गिला?!
सद्भाग्य है–
सूर्य से मिलन हुआ
पथ पर!

सद्भाग्य है–
नये साथियों से
बात होने पर;

सद्भाग्य है–
धरा पर नये मीत मिलने पर।

*

ब्रियांस्की जंगल

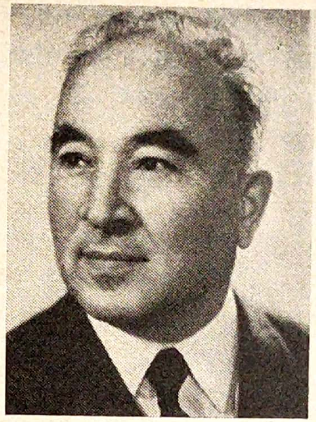
जंगल क्रुद्ध करता कोलाहल,
उतरता कुहासा घना-घना,
देवदारों ने सुनी आहट,
पगडंडी से छापेमारों का जाना।

भोजवृक्षों में छिपी पगडंडी पे
विकट जंगल में थे वे जल्दी में
और कंधे पर थीं हरेक के
हाथ ढली गोलियां और बन्दूकें।

जंगल में दुश्मन की ख़ैर नहीं:
फट रहे हैं सोवियत हथगोले,
कप्तान की पुकार पीछे से आती:
"मारो, तोड़ो गढ़ दुश्मन के!"

जंगल क्रुद्ध करता कोलाहल,
उतरता कुहासा घना-घना,
देवदारों ने सुनी आहट,
विजयी छापेमारों का घर आना।

* अलीम केशोकोव (जन्म १९१४) *



अलीम केशोकोव का जन्म नाल्चिक नगर के पास काकेशिया के एक छोटे से गांव में एक ग़रीब किसान परिवार में हुआ था। उन्होंने उच्च शिक्षा अध्यापक प्रशिक्षण संस्थान में प्राप्त की। फिर महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में भाग लिया और युद्ध के बाद समाज विज्ञान अकादमी में अध्ययन किया। उन्हें इतिहास विज्ञान के कैंडिडेट की उपाधि प्राप्त है।

अलीम केशोकोव ने चौथे दशक में ही लिखना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने कविताएं, गद्य और नाटक लिखे हैं। उनके काव्यसंग्रह 'नये घर में', 'मैं तुम्हारी स्वास्थ्यकामना करता हूं', 'मेरे अतिथि', उनकी लम्बी कविता 'सदाबहार वृक्ष' और उनके उपन्यास 'विलक्षण क्षण' और 'पर्वतशिखर कभी नहीं सोते' हमारे बहुराष्ट्रीय सोवियत साहित्य की महत्वपूर्ण देन हैं। १९६८ में अलीम केशोकोव को 'पर्वतशिखर कभी नहीं सोते' के लिए रूसी समाजवादी जनतंत्र का गोर्की राज्य पुरस्कार प्रदान किया गया था और कबार्दिनी साहित्य के विकास हेतु की गई सेवाओं के लिए कबार्दिनो-बल्कारिया के जनकवि की मानद उपाधि प्रदान की गई थी।

केशोकोव की कविताओं में आज की मुख्य सामाजिक घटनाओं को मौलिक राष्ट्रीय अभिव्यक्ति मिली है और दार्शनिक-गीतिमय पक्ष विकसित हुआ है।

अलीम केशोकोव सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य, सोवियत संघ के लेखक संघ के मंडल के सचिव और अफ़्रीकी-एशियाई लेखकों की सोवियत समिति के सदस्य हैं।

*

ले दूं तुझे सुनहरा हल

"मेरे महिष, संग से चल
ले दूं तुझे सुनहरा हल।"
(एक भारतीय गीत से)।

लहराया पूरब का अंचल,
खिला गुलाबी गगन कमल।
पुष्ट महिष मेरे तू चल,
खींच ज़ोर से अपना हल।

मेरे साथ खींचते हल,
सदा याद यह रखता चल:
करे नित्य लक्ष्मी मंगल,
बरसाये आशीष अचल।

वह श्यामा, श्याम नेत्रोंवाली,
सोचे काजल लगायी हुई —
दंभी नहीं, हम गर्वीले हैं,
सिंह जात में जन्म लिये हैं।

तुम बलशाली महिष महान,
बड़ी नहीं है जोत सुजान।
दुगना उद्यम करते रहना,
हटना नहीं है तेरी शान।

नदी तटों पर खींच रहा हल
सदियों से तू मानव सम्बल।

आदिकालिक उषा की लाली,
चमक रही सींगों पर चंचल।

अमराई में कहीं आम की,
जोड़ा जन्मा प्रसू वाम थी।
बड़े सबेरे हम उठ जाते,
पौ फटने के पूर्व याम ही।

ना मैं राजा, ना तू हाथी
बहा पसीना, करें कमाई।
धान फलेगा, भाग फलेगा,
फ़सलें दो-दो होंगी, भाई।

मेरे महिष धन्य तू होगा,
जब अपना श्रम पूरा होगा।
काशी जाकर गंगाजी में
स्नान करूंगा, तन पवित्र होगा।

झिलमिल-झिलमिल करता जल,
रहें सदा दो दिल हिलमिल।
मेरे महिष संग में चल,
ले दूं तुझे सुनहरा हल।

*

सात भाई

लाल अंचल दूर-दूर लहराया है,
अर्द्धवृत्त सा नील गगन पर रवि छाया है।
हम देते रेगिस्तानों को आज चुनौती,
हाथों में कुदाल ले श्रम घिर आया है।

दिल की धड़कन से पत्थर तोड़ें,
एक साथ मिल मेहनत से नाता जोड़ें।
चौदह हाथ उठें मानो दो हाथ उठें,
हम पत्थर की तह में पहुंचें, ख़ुश हो लें।

श्रम कठोर हाथों पर अपने दिखता है,
हाथों में छालों सा सूरज तपता है।
सात सिरों के देवपुरुष-से हम मिलकर,
सात भ्रातृ-बल, पर एक श्रमिक सा लगता है।

दुष्ट मरुस्थल कारण है अपने दुख का,
चाहे गहरे नरकलोक तक जा पहुंचा।
मेहनत से हम पांव तले अपने पायें
शीतल जल के सरोवर सहसा।

नहीं दिखाई देते हम दानव जैसे,
पर सातों के कंधे मिलकर एक हुए हैं।
हम धरती का कवच तोड़ते अपने श्रम से,
इसीलिये हम तलवारों से तेज़ हुए हैं।

युद्धस्थल में एकसाथ हम आगे बढ़ते,
सावधान, मन में दृढ़ निश्चय करते।
होगी विजय हमारी ही, हम एक रहें नित,
सातों हिलमिल संघर्षों में शक्ति परखते।

आओ चिर्री जुटो मेहनत में साथ हमारे,
लो चट्टानें खींच निकालें भारी भरकम।
पत्थर के कंठों से जल की धारा फूटे
आदेशों से अपने कलकल गाती सरगम!

वृत्रासुर बेबस हो क्रुद्ध गुर्राये,
सागर तल के अंधकार में डूब समाये।

और [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] पर फिर लहराती।

इस जीवन का अर्थ, दूर से हम आते हैं,
[illegible] नहीं [illegible], [illegible] के पास जाते हैं।
[illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] है [illegible] आई,
[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] जाते हैं।

*

प्रिय तुम्हारी याद

जिस पथ पर चल कर रही तीखी [illegible] और
[illegible],
और रात के [illegible] पर झिलमिल की
[illegible]।
लगता है अभी नहीं है फिर [illegible] मैं,
हृदय पर लिये कुछ रहा हूँ जैसे।
[illegible] झिलमिलाती [illegible] सागर में
तूफान,
अंधकार में जलता रहा ज्यों तारक
ज्योतिर्मान।
और दूर के पानी का है
वही फिर [illegible] [illegible],
और शाम के बाद हुआ है
[illegible] [illegible] [illegible]।
कुछ तो [illegible] करने फिर तुम्हें किया ज्योतिर्मान,
[illegible] की [illegible] दूर की
[illegible] उठती जाये
कि हर झिलमिलाती [illegible] की
[illegible] मुख से गाये।

[illegible] जिनकी बाहुओं ने कभी
[illegible] [illegible],
पर न [illegible] [illegible] हम, [illegible] न
[illegible] [illegible]।
[illegible] नहीं है फिर [illegible] [illegible] के और
[illegible] पर रहा है [illegible], उन्मुक्त जन-जन की ओर।

*

[illegible] के प्रति

तू मेरा [illegible] [illegible] है, [illegible] के प्रति [illegible]।
[illegible] [illegible] है मेरा, [illegible] [illegible] [illegible];
मैं [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible],
एक [illegible] की [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] तू [illegible] हुआ [illegible] [illegible] के [illegible] में,
[illegible] [illegible] और [illegible] के,
[illegible] [illegible] मुझे [illegible] के [illegible] में
[illegible] में कि [illegible] [illegible] तू [illegible] की [illegible] में।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में,
[illegible] में [illegible] हुए के [illegible] [illegible] [illegible] में।
[illegible] [illegible] के [illegible]
"[illegible] के [illegible] [illegible],
[illegible] के और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]!"

[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible],
और तुम्हारे लिए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
ज्यों [illegible] में तुम [illegible], मैं [illegible] के [illegible],
और [illegible] की [illegible] में मैं [illegible] [illegible] [illegible]।

Scanned with OKEN Scanner

धन्य समझता मैं अपने को, था बड़ा खुशकिस्मत
कि जहाँ
        आकाश चूमते दिखते हिम पर्वत,
किस्से 'इस्माइल बे' के हम सब गाते,
बैठ आग के पास प्रेम से हम थे तुम्हें सुनाते।

शतरंजी कालीन तले भी किसी रात में
                    तुमने,
कभी नहीं बन्दूक छिपाई सिरहाने थी
                    अपने।
तुम ज्योतिर्मय काव्य जगत में भरते रहे थे उड़ान,
सरल पर्वतवासी का करते थे यशगान।

विनती है मेरी
        और ठहर जा थोड़ी देर यहाँ,
पर तुम्हारे कवि मन को मिल सकता है चैन कहाँ?
देहरी पर काला पल्ला अचकन का फहराते
कसकर ज़ीन घोड़े पर काकेशियाई से चढ़ जाते तत्क्षण।

पर्वत अंचल में तुम यों हवा से बातें करते,
मानो काफ़िर नहीं तुम,
                सच्चे मुरीद हो जैसे –
बायें से तेरा रक्षक मैं हृदय से,
और कैसीन कुलीयेव – सदा दायें से।

सोचमग्न गिरि शृंग उठ रहे उन्नत औ बलवान,
और ऊपर तारकदल करते बातें आपस में।
युवाहृदय तू बढ़ता जाता पथ अनंत, अनजान,
और धूल शताब्दियों की उड़ती जाये टापों से।

*

* अलेक्सेई सुर्कोव (जन्म १८९९) *



सोवियत कविता के जन्मदाताओं में से एक, समाजवादी श्रम वीर और प्रख्यात सार्वजनिक कार्यकर्ता अलेक्सेई सुर्कोव का जन्म यारोस्लाव्ल गुबेर्निया के एक छोटे से गांव में हुआ था। १९१८ में वह लाल सेना में भरती हुए और युवा सोवियत जनतंत्र के शत्रुओं से लड़े। उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'गीत' (१९३०) पर नेक्रासोव की कविताओं का गहन प्रभाव अनुभव होता है। सुर्कोव की कविताएं महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के दौरान विशेष रूप से लोकप्रिय हुईं। उनकी कृतियों का नायक घनघोर युद्धों में अपूर्व शौर्य और साहस प्रदर्शित करता है। सुर्कोव की युद्धकाल में लिखी 'ज़ेम्ल्यान्का' ('भूमिगत आवास'), 'दिलेरों का गीत' आदि कविताएं उन दिनों लगभग हर किसी की जिह्वापर थीं।

युद्ध के बाद कई वर्षों तक अलेक्सेई सुर्कोव सोवियत संघ के लेखक संघ के प्रधान रहे। वह शांति समर्थकों के आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। 'विश्व को शांति' शीर्षक उनके यात्राओं से उत्प्रेरित काव्य-संग्रह के लिए उन्हें सोवियत संघ का राज्य पुरस्कार प्रदान किया गया था।

*

*

युग से रुष्ट होना नहीं काम है अपना :
युवाकाल में बदा था खुले मैदानों में रहना,
बंदूक के कुंदे पर हाथ फेरते थे हम,
मोर्चों की खंदकों में कड़ुआ तंबाकू पीते थे हम।

संगीनों से भाइयों का सा व्यवहार करते,
नली में बंदूक की मृत्यु लिये डग भरते।
नंगे पांव, भूखे, सपनों में डूबे रहते थे हम,
धरा पर सर्वकल्याण का स्वप्न देखते थे हम।

मल्लाह भी थे हम चौड़े पतलून वाले,
वज्र से झपट पड़ते थे हम रिसाले।
भावी युग दिखा ज्योतिर्मय तेज में,
सुख के तारे जगमग होते गगन सेज में।

जीवन ने थी अग्नि परीक्षा हमारी ले डाली,
और हर बार धरती पर पटक दिया।
किन्तु स्वप्न अपने यौवन का मिट न सका,
वह उच्चाशय लिये जीवित सदा रहा।

इसी भांति संघर्षों का यह उत्थान-पतन
हृदय और मस्तिष्क लौहमय करता था।
निकली सत्य कहावत "जीवन को जीना
नहीं खेत को पार करना होता है।"

हमने था निर्माण किया, विज्ञान पर धावा बोला,
छुट्टियां नहीं कभी जानी थीं हमने।
सोने का समय रहा नहीं कभी,
पर ईर्ष्या करेंगे नाती-पोते हमारे जीवन से।

क्योंकि सतत उद्विग्न रहे थे हम मन में,
कालगति तीव्र करते अभियान में।
हमने अग्रिम मार्ग किया था उद्घाटित
मानवता के न्याय-युग में।

*

हां, चालीस वर्ष पहले जब
वोल्गा में हुआ था हिमसंहार।
बर्फ़ टूटकर तैर रही थी,
तट से सरक रही मंझधार।

तारे छिपते थे बादल में
गगन पार आते-जाते
और शीत की अंतिम सांसें
अपने मुख पर हम पाते।

हिम-शिलाएं खण्ड-खण्डित हो
खोती अपनी शीतलता
और प्रथम नैकट्य ताप का
वात वासन्ती में गरमाता।

उर से उर और हाथ से हाथ
मिला खड़े हम वोल्गा के तीर,
समय दौड़ता रहा सहज ही
पर हिम्मत नहीं उसे हमें छूने की।

घंटारव हुआ अर्धरात्रि में
याद नहीं आता वह अब!
सुखी व प्रेमी युगलों को
घड़ी की जरूरत हुई है कब?

बौ-सादा के मरुद्यान में

सुन्दर ताड़ हिल रहे ऊपर,
नीचे झिलमिल थी धारा।
मरुद्यान बौ-सादा के पास
शुरू होता है सहारा।

दक्षिण में थे रेत के
टीले, टीले औ टीले।
गीत बद्दुओं के थे गुंजित,
सदियों से लोचन गीले।

टांगें टीलों पर खड़े ऊंटों की
रेत के थपेड़ों से चिकनी।
पास सरे-बाजार रेंकते
गदहों की भी ख़ूब बनी!

भरी टोकरियां ऊन ला-लाकर
बेचते बंजारे बाज़ार में।
और गला फाड़ अज़ानें देता
मुल्ला मस्जिद की मीनार से।

पास ही मधुशाला में ताखों पर
बोतलों में बर्फ़ पड़ी स्फटिक की सी।
बौ-सादा के मरुद्यान में
पीते फ़्रेंच लोग व्हिस्की।

दाईं ओर लगी मेज़ पर
बैठे थे हम तीनों रूसी,
पी रहे थे वतन से आयी,
मास्को की मदिरा स्वदेशी।

मंद स्वरों में बजता संगीत,
बतरस मद्य मधुर चलाते।
गत लड़ाइयों और सूरमाओं की
बैठे हम बातें करते।

जमे शाम से सुबह सभी थे
पूर्व गगन में हुआ सूर्योदय।
युद्धगीत हम रहे गुंजाते,
फिर शांति काव्य की उठती लय।

सरसर करती मरुस्थली वह,
मग्न ताड़, बाज़ार सभी।
जहां सहारा की सीमा है
बौ-सादा है याद अभी!

*

वियतनामी मित्र को पत्र

कवि, सैनिक व मित्र
न्गुयेन दिन थिये को।

है असीम सी दूरी अपने दो देशों में,
बीच मरुस्थल औ हिमगिरि के धवल शिखर हैं।
यद्यपि देश तुम्हारा देखा नहीं कभी भी,
वियतनाम के दुख से मेरा हृदय विकल है।

शूलों से विदीर्ण सत्वर हर हृदय होता,
जग के कोटि मनुज सुनते जब ये गाथाएं।
चावल के खेतों में भीषण बम वर्षा है,
चीख़ रहे बालक, कराहती ज़ख़्मी बालाएं।

गोले फटते और भयंकर आंधी उठती,
तोपों के मुख उगलते भीषण ज्वालाएं।
घोर कष्ट थे सहे कभी हमने भी, भाई,
सोवियत धरती पर घिर आईं जब विपदाएं।

शत्रु जानता हिम्मत कितनी हैं जनता की,
अनथक लड़ती जो, देती है मात सदा ही।
एक चतुर्थ सदी बीती स्वतंत्रता के हित
निर्भय अग्निपरीक्षा में जय पदवी पाई।

हमें याद हैं इकतालीस के कष्ट घोर वे
और ज्ञात है राष्ट्र शत्रु से जब मोर्चा लेता।
विजय सुनिश्चित होती उसकी ही
न्यायोचित उद्देश्य लिये जो रण में लड़ता।

उषा शान्ति की शीघ्र हरेगी रात्रिकष्ट सब,
रक्तपात का अंत, धरा पर सुख बरसेगा।
यद्यपि देश तुम्हारा देखा नहीं कभी भी,
मेरा दृढ़ विश्वास, समर में तू जीतेगा।

*

ग्रीष्म धूप में नहा रहे थे
गगनोन्मुख रई के खेत,
युवक पूछ बैठा अचरज से:
"क्या होता सुख है?" बता मुझे।

उत्तर क्या दूं मैं अभी, जब
लोग मुश्किल से खरोंचते आत्म-जंग?
सुख का कोटा अपना-अपना,
सब आनन्दित अपने रंग।

है सुख इसी में जिससे
बदला, लोभ, घृणा और डाह मिटें
और सभी कर्मठ मानव नित
श्रम में सुख के दर्शन पायें।

है सुख इसमें कि मार्ग प्रशस्त हो
कम्युनिज़्म का आये स्वर्णविहान।
आस्था मन में रखना होगी
नेक, दयालु मानव सन्तान।

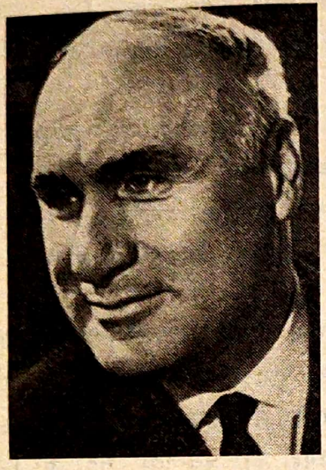
है सुख इसमें कि दुखों पर जय हो,
सुखद पुष्ट नव भाव जगें।
अनाथों से अपनत्व दिखाना,
अभागों को प्रसन्नता भेंट करें।

है सुख इसमें कि बितायें जीवन
इस प्रकार से हम अपना
कि जब उठ जायें लोग कहें यह –
"आत्मीय था वह अपना।

सुख-दुख में वह सदा अचल था
लिये सत्य में निष्ठा..."
हां, सुख है वही जो पाकर
तुमको मिले प्रतिष्ठा।

*

* इराक्ली अबाशीद्ज़े (जन्म १९०९) *



देखने में मायाकोव्स्की और स्वभाव में कोलास ब्रुन्योन जैसे इस अद्भुत व्यक्ति का जन्म जार्जिया के छोटे से गांव ख़ोनी (वर्तमान त्सुलुकीद्ज़े नगर) में हुआ था। अल्पायु में ही इन्होंने अपने वक्ष पर सर्वहारा की मुक्ति और भ्रातृत्व तथा एकता के प्रतीक लाल फ़ीते को धारण कर लिया था।

इराक्ली अबाशीद्ज़े की आरंभिक कविताएं नवजीवन से अनुप्राणित हुईं और उनमें नवोन्मेष और उच्चाशय प्रतिबिम्बित हुए। इनकी रचनाएं सत्यनिष्ठा और अतिशय सरलता के कारण प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं, जो सच्ची कला के श्रेष्ठ लक्षण हैं।

वह जार्जिया के प्रतिभाशाली राष्ट्रीय कवि शोता रुस्तावेली के महान व्यक्तित्व से आकृष्ट थे और कवि के जीवन तथा मृत्यु सम्बंधी रहस्यों से अभिभूत से हो गये थे। अतः इन्होंने अपने महान देशवासी की समाधि की खोज में यरूशलम की यात्रा की, क्योंकि दन्तकथाओं के अनुसार रुस्तावेली को वहां के एक प्राचीन 'सलीब-मठ' में दफ़नाया गया था।

इस प्रकार इराक्ली अबाशीद्ज़े की प्रमुख कृति 'फ़िलीस्तीन, ओ फ़िलीस्तीन...' और प्रसिद्ध काव्य 'रुस्तावेली के पदचिह्न' की सर्जना हुई।

इराक्ली अबाशीद्ज़े कवि होने के साथ-साथ अकादमीशियन, जार्जियाई विज्ञान अकादमी के उपाध्यक्ष तथा सोवियत संघ के एक प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ता भी हैं।

*

भारतीय कवियों के प्रति

नहीं इष्ट है कष्ट किसी का
युद्धक्लांत जगजीवन में,
है उमंग जाने की मन में
किसी मुशायरे-महफ़िल में।

जहां ज्योति से जगमग दीपित
कविवर, गायक सभी जुटें,
निशा निराली ढलती जाये,
प्रतियोगी के स्वर गरजें।

ओजभरे शब्दों के गुंजन से
जागे सोया ताजमहल,
करें धरा की स्वर परिक्रमा,
बरसें चंद्रकिरण अविरल।

कविता के रस-रंग समर में
उतरें धरती के कविराज,
नहीं किसी के मन हो कुण्ठा,
भाव प्रदर्शन क्षमता व्याज।

अगवानी को हम आतुर हैं
बिछा कोहकाफ़ी बुर्का,*
परीकथा सी चांदनी रात में—
तानें तीर, हो गीतों की बरखा।

---

*बुर्का—भेड़ की खाल का बना लम्बा चोगा।

गूंजें गीत सुदूर हमारे
लिये दिलों की यह आवाज,
महमूद औ सरदार पधारें
लेने कला मोरचा आज।

नहीं किसी को भय हो हमसे,
मुक्त दिशा में शस्त्र चलें,
आयें मित्र, सभी घिर आयें,
फ़ैज काव्य रण में उतरें।

इधर चंद्र की किरणें बरसें
हलकी होती अंतर्धान,
गुम्फित हों सजीव शब्दों में
नवभारत के गौरवगान।

हम गायेंगे गीत मधुरतम
उन भारतीय प्रमदाओं के,
जिनकी कोमल बाहुवल्लरियां
लोहा लें उपमाओं से।

मैत्री दीप्त करें प्राणों में,
त्बिलीसी औ दिल्ली के गायें गीत,
रुस्तावेली की मोहक वाणी सें
गूंज उठे हिंदी संगीत।

नहीं इष्ट है कष्ट किसी का
युद्धक्लांत जगजीवन में,
है उमंग जाने की मन में
किसी मुशायरे-महफ़िल में।

*

आलाज़ानी के तट पर

मैं कुशल प्रकृति की वाणी से परिचित हूं,
परिचित हूं क्यों ये ताम्र पर्ण सिसका करते,
क्यों शरद समीरण के आगे उड़ते रहते,
क्यों स्वप्न गूंथती रहती मंद अलस गति से
मेरी अपनी देशी नदिया आलाज़ानी
और सुबकते चरागाह क्यों निकट परानी।

ये शब्द प्रकृति के स्पष्ट सत्य जतलाते हैं—
अंगूरों के लताकुंज औ चरागाह बतियाते हैं,
कभी मन विचलित होता, कभी हम सपनों में सो जाते हैं,
पर मैं निद्रा की समुद बलि दे डालूंगा,
आलाज़ानी से रात-रात भर बातें कर लूंगा,
और उड़ान देख विहग के भय को पढ़ लूंगा।

मैं हूं समर्थ घंटों शिखरों से बातें करने में
और कुमारी हिम पर छूटे चिह्नों को पढ़ने में,
रातों में फूलों की कानाफूसी सुनने में।
नदी तीर से नरकुल की स्वरलहरी क्यों आती है,
हिमनद की बर्फ़ क्यों कराहती, पुकारती है—
मुझे प्रकृति ने सौंपी अपने स्वर की थाती है।

फिर भी शब्दकोष प्रकृति का चिर सुंदरता का संचय है,
उपमा इसकी नहीं कहीं, यह अनुपम, अक्षय है।
शतियों से हम इसके पृष्ठ उलटते आये हैं,
पर आलेखित को पढ़ने में पूर्ण सफल न हो पाये हैं,
कला नहीं कोई भी ऐसी कभी प्रकल्पित हो पाई,
जो दे सके मानव शब्दों को प्रकृति सदृश गहराई!

*

अरे, यहीं बस जाऊंगा मैं

अरे, यहीं बस जाऊंगा मैं, रहूंगा इसी प्रदेश में,
स्वागत है मित्रों का, आना-मिलना इस परिवेश में।
निश्चय यही खरा है, साथी, घूम लें सारी धरती पर,
नहीं कहीं पर सुख मिल पाये ऐसा और कहीं जगती पर।

सिर पर बाशलीक मैं डालूंगा,
इसी वेष में, साथी, मैं दिज़मिती तक आऊंगा।
धारण किये रहूंगा अपने बाशलीक को मैं दिन-रात
जैसे मिली मुझे पुरखों से परंपरागत यह सौगात।

निश्चय मेरा यहीं बसूंगा अपने पूरे जीवन भर,
लेकिन कैसे भूल सकूंगा ओरबेली के उच्च शिखर?
स्मृतियां जाग पड़ेंगी मेरी उन शिखरों की यादें कर,
वहीं कहीं तो छूटा मुझसे मेरा वतन और मेरा घर।

धरा, जहां बहती है सुंदर सरिता रियोनी,
धरा, जहां बचपन की मेरी स्मृतियां बसीं सलोनी,
धरा, जहां मैंने सीखा था चपल उछलना, उड़ना,
जहां कंकड़ों की धरती पर अंकित मेरा चलना।

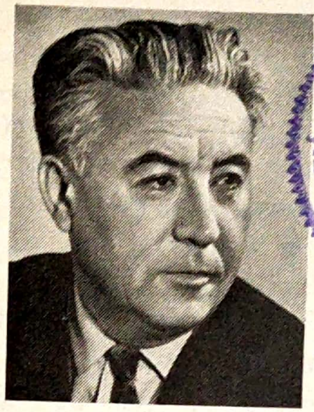
सम्मुख स्पष्ट दीखते मुझको ओदिशी के खेत,
नीले-हरे रंगों से शोभित, सागर लहर समेत।
नभ को छूती, मृदु बातें करती घाटी की चमकीली दूब,
और विशाल अंगूर लताएं वन का धारे हुए स्वरूप।

अरे बता दो नाम मुझे उस धरती औ अंचल का
स्वेच्छा से ले सकूं विदाई जिससे खेदरहित, अविचल सा।
नहीं, जहां भी रहूं विचरता इस सुखसागर-सम परिवेश में,
सब अंचल लगते हैं न्यारे मुझको अपने देश में।

भ्रमण किये जीवन में मैंने कई स्थान रमणीय से,
एक-एक से जो बढ़कर थे, लगे सभी सुखकर थे,
अरे, कहीं भी रहूं भटकता, सौगंध लिये कहता मैं:
"अरे, यहीं बस जाऊंगा मैं, रहूंगा इसी प्रदेश में।"

*

* उइगून (जन्म १९०५) *



उज़्बकिस्तान के जनकवि उइगून का पूरा नाम रहमतुल्ला अताकुज़ियेव है। वह उज़्बेक कवियों की पुरानी पीढ़ी के कवि हैं। उनकी शिक्षा समरकंद शिक्षण अकादमी में हुई थी।

उइगून का प्रथम काव्य-संग्रह 'वासंती उमंगें' १९२९ में प्रकाशित हुआ था। तभी से वह एक मूर्द्धन्य गीतकार के रूप में विश्रुत हैं। इनके काव्य में सृजनात्मक प्रौढ़ता और गहन चिन्तन के साथ युवा रंग और मनोद्वेगों की सरसता के दर्शन होते हैं। इनकी अनेक कविताएं लोकप्रिय गीत बन चुकी हैं। कविताओं के अतिरिक्त उइगून ने कई गीति-नाट्यों की रचना की है। वह एक जाने-माने अनुवादक भी हैं।

उइगून का नवीनतम प्रकाशन है 'जलस्रोत' काव्य-संग्रह, जिसमें विशेष महत्त्व की रचना है 'हिमालय की धवल श्रेणी के पार', जो कवि ने अपनी भारत यात्रा के बाद लिखी थी।

*

जलस्रोत

कंकड़ों से फूटता, कर तीव्रतम प्रतिरोध
उफनता है जिद्दी सा वह छोटा सा जलस्रोत –
लगन उसकी और सूझ-बूझ छू गई मन को,
देखता हूं मैं अचम्भित बाल सा निर्बोध।

बिद्ध करता भूमि को, गाता सुशीतल गान,
रुक नहीं सकता कभी वह रात्रि हो या विहान,
कर्मठ श्रमिक सम निष्ठा बांधे, जग को वह अनजान,
जुटा हुआ है कर्म में अपने लगा तन-मन औ प्राण।

सदा श्रम में रत, रुक जाये यदि आग्रही सा,
दफ़न जीवित मृत्तिका के तले हो जायेगा वह।
पर रुके क्यों? वह साहसी, सक्रिय, अथक, निर्भय।
मन्द, ठहरा, आलसी हो – नहीं यह संभव।

तभी अपने वक्ष में भर कर सदा विप्लव,
लगन तेरी थमे नहीं पल भर जीवन में,
शुष्क रेत में डूब विलीन हो जायेगा
यह नन्हा सा प्रवाहित सप्राण कलरव।

*

विद्युत की सीख

नहीं कभी हो शिकवा, साथी,
थकितमना गर तू हो जाय,

अल्पकाल है इस जीवन का
और अधिक बड़ी है चाह...

सच है जीवन इस धरती पर
ब्रह्मांड का रखकर ध्यान
तड़ित विद्युत सा लगता,
चकाचौंध कर होता म्लान।

तदपि गगन की विद्युत देखो,
क्षणिक ज्वाल जैसी उठती,
खींच रही प्रदीप्त पदरेखा,
मार्ग-दिशा प्रकाशित करती।

मेरे साथी, विद्युत सा बन!
निश्चय ही क्षण एक है पर्याप्त,
अमर एक उपलब्धि हेतु
महत् कर्म करने चरितार्थ!

*

यदि वे पूछें

यदि वे पूछें:
"भावी युग को काव्येतर क्या सौंपा तुमने?
क्या किया है तुमने?
या फिर जिये व्यर्थ ही तुम अपने जीवन में?"
मेरा होगा उत्तर सादर:
"जीवन भर इन्सान को मैंने दिया प्रेम
और किया उसका यशगान।
मतलब इसका कि मैं सिद्ध कर सका
कि मैं खुद भी हूं इन्सान।

*

मेरा इच्छापत्र

अंत समय सबके जीवन में आता, साथी,
धरा तले हमें भी सोना होगा, मित्र,
गजर बजेगा और चल पड़ेंगे हम साथी,
सत्पुरुषों को सौंप चलूंगा अपना इच्छापत्र।

नही कृपणता की थी मैंने, नहीं छिपाई पूंजी,
अथवा संदूकों-तिजोरियों में था भरा गुप्त धन,
नहीं कभी भी लोभ किया था, नहीं आत्मा मारी,
चित्तवृत्ति को मलिन किया कब, नहीं कभी रुलाया मन।

नही छिपाया कभी स्वर्ण मैंने अपने घर में
और बचत खाते में मेरे पूंजी नहीं पृथुल है,
यद्यपि जीवन में मुझको था मिला प्रचुर सम्मान,
गाता रहता जीवन के स्वर मेरा मन प्रतिपल है।

फिर भी मैं हूं धनी सदा ही, धनी आज भी वैसा,
पूंजीपतियों की हिम्मत क्या मुकाबला कर पायें,
पर अपना धन-माल लुटाता आया मैं जीवन भर–
जिन्दादिल रखवाली रखें, मेरी वसीयत पायें।

मत ढूंढो सन्दूकों में तुम, नहीं तिजोरी देखो,
सबसे पहले आकर, साथी, मेरी मेज सम्हालो:
हां, हैं सैकड़ों पंक्तियां लेटीं, मेरा जीवनधन जो,
पढ़ो उन्हें, मनन करो, कविता पर कविता पा लो।

शेष छोड़ता अनुभव मेरे स्वर-लहरी में, साथी–
मेरे सपने और भाव हैं जीवन के सुखदुख में,
विदा ले लूं, मिल जाऊं प्रकृति से अंक में उसके पिघलकर,
वर्षा के लघु बिन्दु सरीखा विलीन हो जाऊं सिन्धु में।

*

स्मारक

तोलस्तोय महान छोड़ चले यह अंतिम इच्छा शेष:
"मरणोपरांत न मुझे स्मारक की चाह।"
खड़े मौन हम उस सादे टीले के आगे,
रक्षक वृक्ष जहां बरसाता शीतल छांह।

लघु विस्मृति से हम बचाते निकटस्थों को
ताकि न कोई झोंका बन उन्हें उड़ाये,
संगमर्मर पर, शोकसिक्त उन आलेखों में
स्वर्णांकित उनके पवित्र नामों को पायें।

तेजोमय इस वृद्ध महामानव की स्मृति को
नहीं इष्ट है कोई आदर–वे व्यक्ति महान।
जीवित साक्षी सदैव रहेगा
उनके ग्रंथों का विपुल वितान।

इतना सत्य प्रगाढ़ व्यक्त है इन ग्रंथों में,
कब्र के फलकों से भी वे दीर्घजीवी...
संगमर्मर की ठंडक नहीं–जन मन की ऊष्मा
रखेगी याद उनकी ख्याति की।

*

चित्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति

ललित तराशी हुई झुर्रियां, लम्बी श्वेत केश लहरें–
गर्वीले गिरिराज सरीखे अविनत उर्ध्वमुखी ठहरें।
निश्चय ही, वे एक शिखर हैं–और बुलन्दी से उसकी
दृश्यमान जीवन समग्र की आंदोलित छवि बहुरंगी।

प्रज्ञा से वे देख रहे हैं सुस्थिर, क्लांत दृष्टि धारे,
मंगल और अमंगल भी उचित व हीन कर्म सारे।
गिरिपुंजक व्यक्तित्व लिये हैं विपुल प्रसारण रत से
एक और हिमगिरि की चोटी, हिमालयी चोटी-कुटुम्ब में।

*

स्वर्णिम पगडंडी

चंद्र उगा है और तलातल पर समुद्र के
बिम्ब कांपते हैं प्रकाश पगडंडी से, भाई:
लगता है उस पथ पर कोई चाहे बढ़ना—
बड़ा सहज है दौड़ लगा छूना ऊंचाई।

चमक रहा है मार्ग सुनहरा सीधा नभ का,
दिशा दिखाता गगन के उस प्रसार की,
जहां ऊपर तारक झिलमिल चमके,
स्फुटित प्रेरणा अंतरिक्ष के अगम पार की।

पर वे स्वर्णिम चिन्ह चंद्र के लगते ऐसे
मानो रॉकेट उठा छोड़ता स्वर्णिम ज्वाला...
चीर तमस को दीप्त करता पथ गगारिन का,
स्वर्णिम नक्षत्रों को जैसे पास खींच लाया।

*

सरू

कितना प्रिय, कितना मादक सा—
ऋतु का कारण नहीं विशेष,
मूर्त्तिमान गौरव सा सज्जित
पहन जीवन का सुंदर वेष।

पुराने पूर्वी कवियों ने था
नहीं अकारण लिखा कभी,
हर्षित हो देते उपमाएं
सदा प्रिया को सरू की।

वे गुलाब से, नरगिस से,
वे नलिनी से थे उपमान,
उनके मधुर काव्य में दीपित
पंक्तिबद्ध से वे छविमान।

"अरे आकृति तुमने पाई
सरू जैसी है कमनीय!"
यह थी सुंदरता की शोभा
कविवाणी में नित कथनीय।

आज व्यथित करती है मन को
कवि के सरू की छाया,
मैं अपनी ध्वनि अनुरूप कर
सहज कल्पना कर पाया—

तुलना रॉकेट से करता हूं
हरा-भरा औ अभिमानी,
उद्यत उठने को हर क्षण
चंद्रलोक का सैलानी।

*

आवाज़ें

फिर भोर में मुझे उठाता है एक कोलाहल,
नहीं बमों का विस्फोटन था यह, न ही गरजती तोप तुमुल।
शांतिपूर्ण निर्माण हो रहा था, उसकी थी यह सशक्त आवाज,
खिड़की से अंदर आता, गूंज रहा रव श्रम का था।

मैं निद्रा से जागा और उसी क्षण यह पाया,
आवाज़ें स्वदेश की सुनकर मेरा जी था भर आया।
सीधी उतर रही थीं, मेरे दिल में बसती जाती थीं,
चिर प्रसन्नता की धारा बन निर्झर सी गति पाती थी।

गजर गूंजते मुझको प्रिय हैं विश्वासी से, नपे-तुले,
"मास्को बोल रहा है!" गूंजे... अपनेपन के स्वर घुले-मिले।
रंजक समाचार का फिर तो तांता सा लग जाता था,
स्वाभिमान जाग्रत सा होता, चित्त मगन हो गाता था।

मेरा मन संवेगपूर्ण है, उषाकाल सा है निर्मल,
धड़कन औ आहें सुन लेता मैं स्वदेश की प्रतिपल।
घोष जहाज़ों के सुनता मैं वोल्गा-दोन नहर पर,
सुनता नील गगन पर उड़ते वायुयान के वे स्वर।

लदी हुई सी मालगाड़ियां करती बेढब से स्वर,
साइबेरियाई टैगा के पार दौड़ती सत्वर।
श्रम की तानें गूंज रही ज्यों गूंजें तान विजय की,
मित्रों के वे अट्टहास औ ईर्ष्या शत्रु हृदय की।

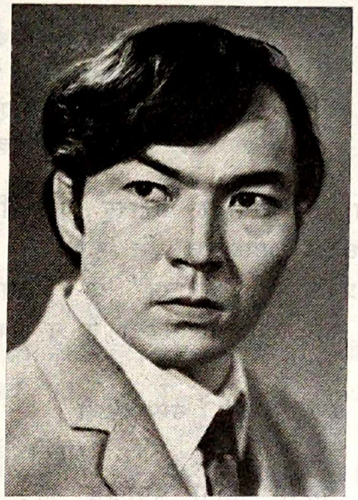
भोंपू की वे तेज़ पुकारें उठी कारख़ाने की,
धरती पर हल के चलने की व फ़ौलाद गलाने की।
नवगीतों का वह मदिर राग लहराता कपास के खेतों बीच,
गुण गाता जवानी का और महिमा श्रमिक के स्वेद की।

हर झंकार सुना करता हूं सावधान मैं अविराम,
अमर घोष 'आरोरा'* का नित गुंजित आठों याम।
वर्तमान की इन ध्वनियों से मैं हूं आशान्वित होता,
औ भविष्य के उज्ज्वल से सपनों को सदा संजोता।

---

*'आरोरा'—युद्धपोत, जिसकी तोपों ने समाजवादी क्रांति के आरम्भ की उद्घोषणा की थी।

* ओलझास सुलेमानोव (जन्म १९३६) *



ओलझास सुलेमानोव की कविता के विशेष लक्षण हैं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और कज़ाख़ लोक साहित्य से गहन संबद्धता। सुलेमानोव की कविता में उनकी जनता के अतीत, वर्तमान और भविष्य द्वंद्वात्मक रूप से जुड़े हुए हैं। कवि के शब्दों में सूर्य, दयालुता एवं मानवता नित्य हैं।

युवा होते हुए ओलझास सुलेमानोव की दर्जनों काव्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिन्हें काव्यरसिक बड़े चाव से पढ़ते हैं। यूरी गगारिन की प्रथम अंतरिक्ष उड़ान को समर्पित उनके खण्ड-काव्य 'धरती, मानव के सम्मुख नत हो' के लिए उन्हें सोवियत संघ का कोमसोमोल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

ओलझास सुलेमानोव आज के प्रमुख कज़ाख़ कवियों में से हैं। उनका जन्म अल्मा-अता में हुआ था। कज़ाख़ राज्य विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने मास्को के गोर्की साहित्य संस्थान में अध्ययन किया। आजकल वह कज़ाख़स्तान के लेखक संघ के सचिव हैं।

*

पीली साड़ी वाली बच्ची

स्टॉकहोम, वाशिंगटन,
इस्ताम्बुल, बिहार (भारत) में
विरोध-सभाएं हुईं...
(समाचारपत्रों से)।

मालूम है, सम्पादक महोदय, कि बिहार कहां है?
यह धरती भूमध्यरेखा से कुछ ही दूर है,
इस प्रदेश में 'कम्बाइन' या 'एलीवेटर' नहीं हैं,
बंजर को नापा जा सकता है न एकड़ों में,
न 'ली' में।

ऐसी कृश धरती, सम्पादकजी,
आपने देखी न होगी।
आया पहला महीना वर्षाऋतु का,
व्यर्थ मेंह का इन्तज़ार करते रहे,
अगले महीने भी बारिश नहीं आयी।
आंधी काली घटाओं को लूट ले गयी,
उन पर सफ़ेदी पोत गयी,
सावन कन्नी काट गया—सागर उसे पी गये,
सावन! ताड़ के पत्ते भी झुलसकर गिर गये हैं।
झूले पर झूल रही है बच्ची
पीली साड़ी में...

१

लोग चल रहे थे, काली छाया से भी काले पड़े
और कितना कठिन था उनके लिये
ढोना अपनी क्षीण छाया भी
सफ़ेद दरारें पड़ी धरती पर।
वे, भूखे, लड़खड़ा नहीं रहे थे—चल रहे थे

मैदान की ओर
सुनने
कवि श्री को।
चल रहे थे
जैसे हिन्दू आत्म-दहन को,
चल रहे थे
कि सिर्फ़ जौ से नहीं जीते,
वे आये देखने—
शिव को नहीं,
हाड़-मांस के श्री को।
श्री की कमीज़ से उनकी पसलियां झलक रही हैं,
हिलता है बबून सा सफ़ेद सर श्री का
श्लोकों की लय में
स्नायुवान श्याम डंठल पर।
माधुर्य वाणी में—मंत्र मूल्यवान है।
पर क्या ज़रूरत है उसकी
जब लोगों के खाने के लिये
सड़ा आम भी नहीं है?
शीशम की जड़ों से लेकर
बबूल की छाल तक चबायी जा चुकी है।
वियतनाम के समर्थन में सभा है
बिहार राज्य में।
नारा बोर्ड पर
ताड़ से लटक रहा है।
मर्मर ध्वनि श्री की कहती है
वियतनाम की लड़की के बारे में
जो जला दी गई थी नापाम से।
भूख—हज़ारों सगे भाइयों का तरसना दाने के लिये,
आवाज़—हज़ारों मुंहबन्द लोगों का आक्रोश।
"दुनिया में और कोई जात नहीं है
सिवाय—

भूखों और तोंदिलों के,
दुनिया में और कोई पांत नहीं है
सिवाय –
जिन्दों और हतों के।
हम
भूखे हैं,
पर वियतनाम में
शान्ति हो!"
प्रदर्शन स्वीडन, डेनमार्क, अमेरिका में
नहीं चौंकाते हमें!
कम से कम उनका पेट तो भरा है।
और श्री चार दिन भी नहीं जियेंगे।
और यह बच्ची
मर जायेगी रात को, आज ही।
उसके बारे में कुछ शब्द।

२

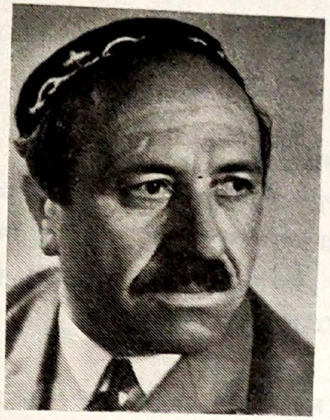
दुखी, परेशान चेतना से अपने अन्त की
अधलेटी है अख़बार के टुकड़े पर बच्ची,
उड़ान भरती आकाश तक, और लौटती,
मानो झूले पर समाप्त हो रही
ज़िन्दगी उसकी।
कोहनी निर्बल
टिकी है गाल पर सोफ़िया लोरेन की,
फिर फिसलती है; आंखें घूरती हैं
अभिनेत्री को,
मुझे लगता है – यह इटालियन
दांतों से काट रही है उसकी कोहनी,
उसके सुन्दर पैर ऐंठते
उलझ जाते हैं पीली साड़ी में।

...श्री गा रहे थे, और मैं दफ़ना रहा था अपनी
क्षीणकाय किताबें।
वे मर रही थीं क्षीणता से,
उनकी सांस घरघरा रही थी।
क्या लिखते हैं हम?
किससे सिक्त करते हैं हम अपनी चीखें?
जब रोटी नहीं है बिहार में,
क्यों गाते हैं हम!..
वीणा प्रतिभाहीन है, झूठे हैं तूर्यनाद,
कला अन्धी है,
जब रोटी नहीं है आंखों के सामने
पीली साड़ी वाली बच्ची की।
गोली सा उसे मार डालेगा
चावल का दाना,
जो नहीं है,
इसके पहले कि नेपाल से
आयेंगी खाद्य-सामग्रियां –
चेतावनी देता है
श्री, कवि, बच्ची को –
हिन्दू उसे जला देंगे चिता पर,
लेकिन इससे भी पहले
जला दिया जायेगा
वियतनामी लड़की को, नापाम से...
लड़की झूलती है झूले पर
अक्षांश और देशान्तरों के,
झूलती उड़ती है भारत से,
छूती है इटली को कोहनी से,
लम्बी रात नज़दीक आती है,
श्री चुप हो जाता है।
और लड़की झूलती लौटती है
और फिर वापस उड़ती है।

"मां, सावन आ रहा है,
मामा को बुलाओ न, मुझे ले जाने के लिये।"
"हां, सावन आ गया है
पर मामा मर चुके हैं, बेटी।"
"मां, सावन आ रहा है,
भाई को बुलाओ न, मुझे ले जाने के लिये।"
"हां, सावन आ गया है
पर भाई मर चुका है, बेटी।"
"मां, सावन आ रहा है,
मां, तू आ न लेने मुझे।"
"मां तेरी उठेगी,
सावन आया है, तुझे ले जाने के लिये..."
...चिता पर झुलसती ऐंठती है
बच्ची लाल लपटों की साड़ी में,
इस दहन के साथ ही
ख़त्म होती है सभा बिहार में।

*

* कैसीन कुलीयेव (जन्म १९१७) *



सोवियत कबार्दिनो-बल्कारियों के लोक कवि कैसीन कुलीयेव का जन्म ऊंचे चेगेम नामक पर्वतीय गांव में हुआ था। १९३९ में उन्होंने मास्को के लुनाचार्स्की राजकीय नाट्य-कला संस्थान से स्नातकीय उपाधि प्राप्त की। उन्होंने महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में भाग लिया था।

कैसीन कुलीयेव की कविताएं अत्यंत लोकप्रिय हैं। अपनी काकेशियाई जन्मभूमि के पर्वतों से शांति और मैत्री का आह्वान करती हुई उनकी आवाज़ पृथ्वी के दूर-दूर भागों तक पहुंच गयी है। उनकी प्रमुख काव्य पुस्तकें हैं: 'रोटी और गुलाब', 'मेरे पड़ोसी', 'पर्वत', 'भूमि और गाना', 'पर्वत पर की अग्नि', 'लेनिन के प्रति एक पहाड़ी की कविता', 'घायल पत्थर' और 'चुनी हुई कविताएं'। १९६६ में कैसीन कुलीयेव को 'घायल पत्थर' के लिए रूसी संघात्मक जनतंत्र का गोर्की राज्य पुरस्कार प्रदान किया गया था। १९७४ में उन्हें सोवियत संघ के राज्य पुरस्कार से विभूषित किया गया।

कैसीन कुलीयेव कबार्दिनो-बल्कारियाई स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य, अफ़्रीकी-एशियाई जनगण के

साथ एकजुटता की सोवियत समिति के सदस्य, सोवियत लेखक संघ के प्रबंधमंडल के सदस्य और सोवियत कबार्दिनो-बल्कारियाई शान्ति समिति के अध्यक्ष हैं।

*

मैं चला जाऊंगा और तुम भी, समय आने पर,
किन्तु दूर्वा बनी रहेगी सदा दूर्वा इस धरा पर,
और दोनों हम न होंगे जब यहां अवलम्ब पाकर,
सौ बरस बाद भी यों ही गिरेगी आज जैसी –
बर्फ़ दर्रे पर औ बिछेगी श्वेत चादर जैसी।

जियें हम सौ वर्ष अथवा वर्ष केवल एक,
निकट अथवा दूर होंगे पथ हमारे ये,
तुम हम दोनों उठ चलेंगे जब यहां से,
हर विदा की भांति होगा कारुणिक दृश्य ये।

गम करती चली जाती हैं रेलें अपार,
बहुत दुखी, बलूतों के गिर रहे पात –
सदा उदास हमको बनाता लाल सूरज,
जब विदा लेता प्रतीची में पहाड़ी के पार।

कसक लिये हरित छवि भी है मिट जाती,
और वन का वृषभ अपना छोड़ देता है स्थान,
हर बार अलाव गड़रियों के एकाकी
बुझते-बुझते जमाते हैं दर्द दिल में अथाह।

विदा ले कोई, विदाई सदा होती है क्रूर,
इस धरा पर रूप इसका हो न सकता अन्य,
सुन, नदी है बहाती जब दूर देश जाती
ले वृक्ष का तन अश्रु भर भर नयन।

उड़े अंतिम विहग, लगता समय अति अनुदार,
यद्यपि लौट आयेंगे पुनः जब आयेंगे ऋतुराज,
है उदास ग्रीष्म और दिन प्रयाण का,
यद्यपि लौटकर है उन्हें आना सदा।

मैं चला जाऊंगा और तुम भी, समय आने पर,
किन्तु दूर्वा बनी रहेगी सदा दूर्वा इस धरा पर,
और दोनों हम न होंगे जब यहां अवलम्ब पाकर,
सौ बरस बाद भी यों ही गिरेगी आज जैसी –
बर्फ़ दर्रे पर और बिछेगी श्वेत चादर जैसी।

*

माता

जा रही है एक नारी गांव में अपने,
विकट, ढालू पत्थरों का पथ है उसका,
अंग में अपने उनींदा शिशु लिये है वह –
स्मरण मुझको सहज आता मातृ अंचल का।

जा रही है एक नारी, माता किसी की,
लौट आये पुनः मानो जन्म के क्षण हैं,
आ रही है गंध उसकी वेशभूषा की,
मधुर सी सौरभ फलों की उठ रही मन में।

तनिक सा भी ध्यान उसका नहीं है मुझ पर,
कंठ से शिशु को लगाये जा रही है वह –
जगत के सब कष्ट हरती वक्ष से अपने,
ढके आंचल में उसे ले जा रही है वह।

जा रही है वह माता पथ को छोड़ती पीछे,
हो रहा सृष्टि का नवसृजन जैसे,

संभाले गोद में, लगाये कंठ से शिशु निज,
दिखे यों सुख धरा का वह हो समेटे।

आशंका शायद मन में है कोई।
कल क्या होगा? क्या वह चाहती?
बढ़ रही है माता अपने पुरातन पथ पर,
खेत, रण-भूमि, राख, सदियों को पार करती।

बढ़ रही है माता सृष्टि के आरंभ से,
लिये क्षीण पर दृढ़ भुजाओं में
स्रोत जीवन का, हरेक का हम में से,
शैशव इस शिशु का, आज जैसे।

मौन होती पगध्वनि, वह विसर्जित होती,
शांत है सब – नहीं आंधी, धूल के तूफ़ान।
जा रही है माता और – लगता है मुझे –
शीश झुका रहे हैं पर्वत उसके सम्मान।

*

कठिन जीवन जिनका

नहीं कभी भी भाग्यप्रतीक्षा की तुमने,
आशा श्रम पर नित्य लगाई थी अपने,
तुम्हें ज्ञात था अन्यों से यह कहीं अधिक,
स्वाद, गंध कैसा है अन्न और जल में।

धरती पर तुमने गहरी नींवें डालीं,
जोता उसको, निर्माण किया।
समझा तुमने मूल्य शब्दों और काम का,
आकाश में सूरज और चूल्हे में आग का।

तुमने अन्न उगाया, पसीना बहाया,
कभी चले अकेले ही पर्वत की राह।
दुर्गम पथों ने तुम्हें सिखाया
धीरज-संयम और मानव बनने की चाह।

कमी नहीं थी सुख और दुख की,
आंसू और मुस्कान की
हर युग में,
पर वे कहीं कम थे कष्टजीवियों से
फूलों की सेज गनीमत थी जिन्हें।

मार्ग विकट कठिन है जीवन जिनका,
घोर कष्ट में जो जीते थे:
लुदविग वान बीथोवन से संगीतगुरू
और चेगेमी मवेशी-पालक पिता मेरे।

*

हिरोशिमा का तिक्त धुआं

भस्म हिरोशिमा का तिक्त धुआं
घुस आया है मेरे घर,
और मैं फिर व्यथित हूं।
उसके पीछे रेंगता आता है धुआं औश्वित्ज का,
काला करता,
घोंटता मेरी आत्मा।
धरती हमारा अपना घर है।

मैं भागीदार हूं, जब उसमें
खुशी का त्योहार है।
मैं हंसता हूं, नाचता हूं—
सब मग्न हैं,
पर मैं विकल हूं, जब उसमें
दुर्भाग्य है।

हम सब—दीवारें हैं घर की।
सिर्फ़ सभी की ताकत से वह खड़ा रह सकता है आज।
जो हृदय से यह समझता है वही है आदमी,
जलपान कर सकता है एक नदी से, सबके साथ।

तुम्हारे त्योहारों पर नाचता हूं मन भर,
मेरे घर, जहां मैं पनपा, मेरी विशाल धरती!
पर दुर्भाग्य के दिन मैं तैयार हूं गिरने को मृतप्राय,
गिरने को कि शत्रु न कर पाये पार तुम्हारी दहलीज।

*

नारी नहा रही है नदी में

नदी में नहा रही है नारी,
थम जाता है सुदूर अंशुमाली,
स्नेह से रख उसके कन्धों पर
स्वर्णिम किरणों से अपने कर।

उसके पास ही, उसका सर छूती
भीगती है छाया तट के पत्तों की।
स्तब्ध हैं तृण मैदानों में
और गीले पत्थर किनारों पे।

करती है कल्लोल स्नानरता जल में,
नहीं है अपकार, न ही मृत्यु जग में।
नहीं शीत, सीत्कार बर्फ़-आंधी की,
नहीं क़ैदखाने, न ज़रूरत भीख मांगने की।

नहीं है युद्ध किसी महादेश में—
नारी नहा रही है नदी में।

*

* **गेवोर्क एमीन (जन्म १९१८)** *



"आर्मीनियाई मिट्टी सूर्य से तप्त चट्टानों से बनी है... वह कठोर व दृढ़ है और उस पर केवल साहसी लोग ही रह सकते हैं–सिर्फ़ ऐसे लोग, जो अडिग हैं, जिनके पास अद्भुत सृजनात्मक क्षमता है और जिनके मनों में जिज्ञासा है।"–इन शब्दों में गेवोर्क एमीन ने अपने देश की मूलभूत विशेषता को अभिव्यक्ति दी है।

लोकप्रिय आर्मीनियाई कवि एवं लेखक गेवोर्क एमीन का जन्म आश्तराख़ गांव के एक अध्यापक के परिवार में हुआ था। उनकी प्रथम रचनाएं चौथे दशक के उत्तरार्ध में प्रकाशित हुईं और १९४० में उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'सूत्रपात' प्रकाशित हुआ।

गेवोर्क एमीन राज्य पुरस्कार विजेता हैं और उनके एक दर्जन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी कविताओं का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और वे सोवियत संघ तथा विदेशों में प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं: 'नया पथ', 'गाथाएं व कविताएं', 'आज तक' और 'इस उम्र में'। एमीन की काव्य-कथा 'आर्मीनिया के सात गीत', जो उनकी मातृभूमि के अतीत एवं वर्तमान की कहानी कहते हैं, पाठकों में ख़ास लोकप्रिय है।

*

नहीं है इस धरा पर धनिक मुझ सा:
भारी हाथों में है मेरे–
सत्य युग का,
सार उसके क्रूर संघर्ष का
और विजय उसके विराट भाग्य की।
यश-तेज मुझे देता मेरा धन,
पास न फटकने देता वह कभी थकन–
झटकाकर कन्धे फेंकना थकान
कि रहे न हृदय में उसका निशान,
पथरीली वीथी पर प्रसन्न
क़दम बढ़ाता,
पर्वत-तड़ितों में मैं दिल
झुलसाता।
अनदेखे अभी नगर बहुत हैं,
स्वच्छ नील गगन तले ग्राम उपवन बहुत हैं।
साल बीते बहुत हैं, बहुत हैं अभी
भविष्य में,
वर्तमान चले आ रहे हैं बीतों की
जगह में।
हैं दूरियां अन्तर्ग्रही गगन की
जिनके बिना जी न सकता कभी।
दुख बस एक है
कि जीवन कभी ख़त्म हो जायेगा,
समय अति अल्प है–
अभीष्ट सारा पूरा न हो पायेगा।
मुझे लग चुकी है युग की हवा

मेरे लिये सौ जन्म भी काफ़ी न होगा।
शिकवा करता यहां मैं अल्प जीवन से,
स्पूतनिक उड़ रहा उधर मेरा
दीप्त गगन में।

उड़ रहा वह तारक कक्षों पर घूमता,
सुदूर ऊंचाई से मुझ से कुछ कहता।
तू धूम्रां था नयनहीन, – कहता वह, –
तू धूम्रां था – तू गर्म आग बन,
तू आग था – तू लपलपाती शिखा बन
कि कष्ट मनुज के हो जायें तुझ में भस्म।
तू पैदलों से दोस्ती करता, – कहता वह, –
तू सरपट दौड़ पागल पवन संग।
तू दौड़ता था लांघता खाइयों को –
तू उड़ चल,
तू सीख उड़ना निडर बन।
तू देखेगा घूमती यह पृथ्वी कैसे,
निहित हैं जीवन में तेरे
असंख्य जीवन कैसे।

*

घर की गाथा

१

नहीं पिता का कोई घर था ज्ञात उसे,
आवारा सा फिरता था वह बचपन से,
और तड़पता रहता वह अपने उर में,
अरे कभी तो रह पाऊंगा निज घर में।

उसका नहीं पिता का कोई घर था,
दूर नगर एलेक्जेंद्रेत में रहता,

लिये हथौड़ा और फावड़ा श्रम रत सा,
उषाकाल उसका हर पत्थर रंग देता।

माता बोली, "नहीं पसीना वृथा बहा,
रह लेते हैं किसी भी तरह यहां।
पुनः न जाने हमें कहां बसना होगा,
कहीं इसे भी छोड़ हमें न चलना होगा!"

मां चल बसी, किन्तु उसकी थी बात सही,
जो उसके मन में भी हर दम बसी हुई।
रहा मकान अधूरा उसका, वह भागा,
जान बचाने तुर्कों से, घर को त्यागा।

२

नहीं पितृगृह की उसने कभी छत देखी,
बेरुत भी था वैसा ही जैसा तुर्की,
किन्तु लगा वह चुनने पत्थर पर पत्थर,
ताकि मिले उसके बच्चों को अपना घर।

"नहीं शक्ति वृथा गंवाओ इस घर में,
विश्वास न करो तुम जादुई मंतर में,
अरे, विदेशों में भी कोई घर होते,
हमें यहां से जाना है, याद रखो यह मन में।"

पत्नी भी मर गई, शीघ्र उसने देखा –
वचन हुए सच्चे उसके, सब काम रुका,
छत के बिना खड़ा था आख़िर घर उसका,
वह स्वदेश को ख़ाली हाथों लौट चला।

नहीं पिता का कोई चूल्हा मिला उसे,
जीवन के उस लम्बे पथ के शेष में,
अतः हथौड़ा लिया हाथ में फिर उसने,
नया भवन लगा बनाने येरेवान में।

"आओ, मेरे वृद्ध पुरुष अब आ जाओ,"
चिल्लाई थी मृत्यु गर्व करती मन में,
"अरे, क़ब्र में पांव लटकते हैं तेरे,
छोड़ो सभी प्रयत्न, अब, अंतिम क्षण में।"

जवाब में बस उसने इक मुस्कुराहट दी,
और छत बनाता रहा वह प्यार से,
और पौत्र की थी आवाज़ सुनाई देती,
बगिया से, जो सटी हुई दीवार से।

*

इस धरती से दृष्टि हटाना कैसे संभव,
जहां घास थी हरी-भरी सी कभी घनी।
और पसरती द्राक्षलताएं ढालों पर,
मंगलमय जन के जीवन की आस बनी।
तब इन्हीं खेतों पर थे वे युद्ध हुए,
और रक्तरंजित लाशें थीं बिछी हुई,
क्रूर करों से हताहत नरदेह पड़ी,
अरे हमारी मातृभूमि है सत्य यही!
पुनः चिह्न युद्ध के सब लुप्त हुए,
धूल और धरती में वे हैं सुप्त पड़े,
पुनः सजे हैं खेत धान्य से हरे-भरे
जहां रक्त बहा था, फूल वहां अब पुनः खिलें।

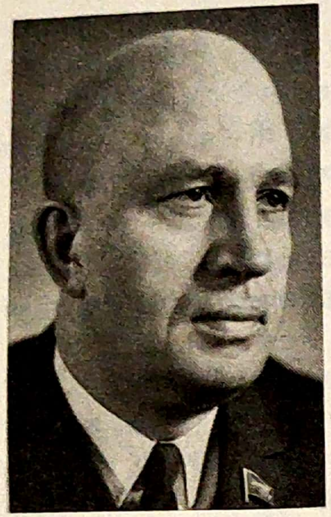
मगर धरा पर युद्ध-भेरी अब भी गुंजित,
लोगो! कब जीवन में होगी शांति उदित?

*

इस धरती पर ज्ञात नहीं है मुझे अभी
'हां' औ 'ना' से लघु हो सकता शब्द कभी,
पर कभी बस हामी भरना
या कह देना 'ना'
इतना मुश्किल होता
कि लगता नाकाफ़ी यह जीवन सारा।

*

ग्रिगोल अबाशीद्ज़े (जन्म १९१४) *



ग्रिगोल अबाशीद्ज़ की गणना अग्रणी सोवियत जार्जियाई साहित्यकारों में होती है। उनका गद्य व पद्य, दोनों पर समान अधिकार है। उनका सुसंस्कृत एवं सुविज्ञ व्यक्तित्व खरी प्रतिभा और परिमार्जित साहित्यिक अभिरुचि का मूर्तरूप है।

अपनी एक कविता में उन्होंने अपने रचना-धर्म व सृजन-कर्म को यों परिभाषित किया है:

मन में होता न यदि मंथन,
भाव न करते यदि आलोड़न,
कैसे यह साहस हो पाता,
कवि धर्म को यों अपनाता?

अबाशीद्ज़े के गीति-काव्य का नायक उच्च नैतिक गुणों, व्यापक बौद्धिक क्षितिज और जीवंत अनुभूतियों से अभिभूत है।

उनका कृतित्व जार्जियाई इतिहास और साहित्यिक परम्परा का अटूट अंग है। वह वर्तमान की जड़ों को अतीत में और भविष्य की आकृति को वर्तमान में ढूंढ़ते हैं।

राजकीय पुरस्कार विजेता ग्रिगोल अबाशीद्ज़े जार्जियाई लेखक संघ के प्रथम सचिव, सोवियत संघ के लेखक संघ के प्रबंध सचिव एवं सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य हैं। अबाशीद्ज़े की कविताएं संसार की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं।

*

नकारो गर्व धरती का, इसे भुजपाश में ले लेना,
समझकर बिन्दु इसको, बिम्ब अपना देखते जाना,
कर्म है सेतु सदृश डोलते से डंडों का यह बना,
रुक मत, हे युवक! तुम आग से नित खेलते जाना।

तुम्हें है उस कांपते से नद-सेतु के पार बढ़ना,
बहाकर स्वेद, तन को तानकर प्रश्वास दृढ़ करना,
तुम्हें तो है धधकना और फिर है क्षार बन जाना,
बिना झुलसे, संभाले पंख, ध्यान में यह धरे रखना।

सजग रहना तुम्हें है और दृष्टि प्रखर नित रखनी,
अन्य भोगों से कभी मन व्यग्र मत करना,
तुम्हें निश्चिंतता से है चिरंतन मित्रता करनी,
हृदय कर मुक्त चिन्ता से, पवन कर वश, गगन उड़ना।

बढ़ो आगे, निमंत्रण दे रही है विश्व की गरिमा,
गगन में विहग सम सदा ऊंचे विचरना,
खड़े हो सेतु पर तुम डोलते डंडों की जो रचना,
सनातन तुम स्वयं, नित अग्नि से क्रीड़ानिरत रहना।

*

पतझड़

गगन में था सूर्य शांत, थमा हुआ,
डाल पर था पात निःस्तब्ध लटका हुआ।
आत्मा में इक रहस्यमयता छा गयी,
पीड़ा की धधक हो जैसे उठ रही।

कभी घोषणा बिजली चमक की हुई,
रुक गयी गति, नभ तमस ने छुआ।
और फिर दिवाकर ऐसे जा गिरा,
ज्यों सिजिफस का पत्थर लुढ़का चला।

चक्र पूरा हुआ, जग विलय हो गया,
मानो थक गयी प्रकृति हो विनत और आहता।
फिर वही पत्थर शिखर पर वापस चढ़ा,
शरद बीता कि शीत का आना हुआ।

एक कड़वी सी मुस्कराहट मुख पर दिखी,
पर था वही जो सदा तुम देखती रहीं।
शायद वही चक्र है यह चल रहा,
चलता रहेगा जो प्रलय तक सदा।

कोसना मत प्रकृति को कभी,
न मनस्ताप करना या डरना कभी।
उलझन तुम्हारी डोर सी टूट जायेगी
उदासी भरी पतझड़ में ही इक दिन कभी।

*

मेरे मन की अभिलाषा उन्मादी समझे यह संसार,
किन्तु, प्रिये!
इस इच्छा को तुम कर लेना अंगीकार,
वृक्ष अलूचे की छाया में मुझे सुलाना अंतिम बार,
वक्षस्थल पर कलियां बरसें श्वेत, सुगंधित औ सुकुमार।

मेरे दिल को कभी जलाना चाहो यदि तुम चतुर सुजान,
उन्मादी, उच्छृंखल इच्छा को पूरित करना अविराम,
ग्रीष्मकाल में फूल गुलाबी झाड़ू के लायें मुस्कान,
गहरे रक्तिम अहिपुष्पों की आग जलाना विनती मान।

गुर्जी घुड़सवार को लेकर निपट निडर मैं बढ़ जाऊंगा,
धूमिल शोकवस्त्र धारण कर ऊंचे से ऊंचा चढ़ लूंगा,
नहीं, पंख नहीं, लैलिक आइरिस मेरे वाहन होंगे,
सूर्यपोषिता गगन-नीलिमा से मिलने के वे दिन होंगे!

सारे जग में हो वसन्त
और मैं होता जाऊं पागल...
धरती से उठ जाऊं तो फिर न हो उदासी की हलचल,
एक अलूचे के नीचे हो मेरा पार्थिव अंश अचल,
पुष्पों की चिता पर लेटूं–यही इष्ट मुझको अविरल।

*

पुनः लौटकर कभी न आता यह छलिया संसार हमारा,
क्षण भर पहले दृष्टिपात कर जो देखा वह बदला सारा।
कौन रोक सकता है इसको जो अतीत में उड़ता जाता,
अपने प्रियतमों के जीवन को क्षण भर रोक नहीं मैं पाता।

मानव, कह दे रे निज मन की! सब कुछ होते समय उड़ रहा
अगणित उत्तर मिलते रहते, इनके पहले प्रश्न एक था।
अन्य जनों से कहीं अधिक कवि निज आत्मा को व्यक्त किया कर–
भाग्य स्वयं पाबन्द कर रहा, अपने मन की बात कहा कर।

निश्चय कर जीवन जीने का हर उड़ते क्षण से तू पहले,
पर द्रुत गति से भाग रहा क्षण, ऐसा लगता बरसों ठहरे।
और वही क्षण मरण पूर्व यदि न तुझे प्रेरित कर पाये,
तो तेरे अंतर को छू ले, गहरा मनस्ताप बन जाये।

*

* जुबान मुलदाग़ालीयेव (जन्म १९२०) *



जुबान मुलदाग़ालीयेव सोवियत कज़ाख़स्तान के एक प्रमुख कवि हैं। उनका जन्म पश्चिमी कज़ाख़स्तान की झिलान्दी नामक बस्ती के एक पशुपालक परिवार में हुआ था। वह अबाई राज्य पुरस्कार से सम्मानित हैं और कज़ाख़स्तानी सोवियत कवियों की युद्धकालीन पीढ़ी के प्रतिनिधियों में गिने जाते हैं।

'विजय गीत' शीर्षक उनका प्रथम काव्य-संग्रह १९४९ में प्रकाशित हुआ था। मुलदागालीयेव की युद्ध के मोर्चे पर लिखी हुई रचनाओं ने उन्हें सोवियत कवियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान दिलाया। तब से उनकी तीस से अधिक काव्य पुस्तकें विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

उनके काव्य में समय की धड़कनें सशक्त रूप से सुनाई देती हैं। उनमें जीवन के सौंदर्य व समृद्धि का गायन हुआ है और उच्च नागरिक-बोध की अभिव्यक्ति हुई है।

कवि अपनी जनता के जीवन व इतिहास, सुख-दुख से ऐसे घुले-मिले हैं कि उनके काव्य में वर्णित स्तेपी प्रदेश, जिसे कज़ाख़ जनतंत्र की जनता ने पुनरुज्जीवित किया है, मानो फिर से मुखरित हो उठा है।

*

कज़ान* में

१. कितना गर्म

झेले हम कज़ाख़ कौन-सा न निदाघ?
तरह-तरह की गर्मी पड़ी हमारे भाग।
अग्नि देखी युद्ध की हमने और दाह हमले का,
प्यार की गर्मी देखी, देखा ताप कविता का।

रक्त बहता तप्त कज़ाख़ धमनियों में,
तप्त मानस रहे कज़ाख़ों के अनादिकाल से,
तथापि आलिंगन कज़ानी तेज़ मदिरा सा लगा,
झुलसे हम इस भेंट की मनुहार से।

साथ वे मिलजुल रहे, सदियों का हवाला,
हाथ में दे हाथ हमने स्नेह था पाला।
गीत अपने एक से हैं, सदा सबको ज्ञात,
अग्नि लपटों में उठी बन्धुत्व की ज्वाला।

ग्रीष्म का ताप तुमने भी सहा, सहा भीषण शीत,
युद्धज्वाला में खड़े तुम न तटस्थ, न भयभीत।
अग्नि में ही जन्म पाते सदा वीर जलील** जैसे,
फ़ौलाद से बनते हैं वे जब आग में तपता शरीर।

---

*तातार स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र की राजधानी।

**विख्यात तातार कवि मूसा जलील, जिसको फ़ासिस्टों ने मोआबीत बन्दीशिविर में सताकर मार डाला था।

२. अफ़सोस...

वे पीछा करती तेरा सर्वत्र हैं नत सी,
मुंह ढांप लें, तो भी हथेली भेदतीं,
पैनी हैं, गोलियों सी चुभती हुई,
लगती नहीं वे कोयले सी, अपितु शिख श्याम सी!

देखा इन्हें जिसने भले ही एक बार,
स्मृति में संजोये रखेगा सर्वदा।
कैसी थीं वे आंखें, कितनी सुखद,
अनुभव था वह मानो परलोक सा!

उड़ रही वह मुक्त मृगी सी चौकड़ी भरती,
और छाया से स्वयं की होड़ सी करती,
मंच पर झूमती प्रिय नर्त्तकी सी,
दूर के मृगजल सरीखा स्वप्न रचती।

कौनसी विस्मयभरी है कला इसमें व्यक्त?
मोहिनी दो श्याम बांहों का मधुर चालन,
हंस के पांखों सरीखी फड़फड़ातीं जो,
रेशमी भुजवल्लियों का मदिर सम्मोहन।

है क्या यह मुकुलन वासंती कुसुम का,
या खिलना पुष्पदल का ग्रीष्म के कारण?
या है क़िस्सा पुराना नाट्य का कोई,
जो हुआ अभिनीत नूतन रूप कर धारण?

भोर होने तक यहीं बैठा रहूंगा मैं,
उत्फुल्ल नयनों को निरखता ही रहूंगा मैं।
कल्पनाएं थिरकतीं नृत्य मुद्रा में,
नर्त्तकी की मोहिनी छवि में रमूंगा मैं।

तू परम आह्लादिनी, तू है युवा चंद्रा,
स्वप्न है तू, तू प्रेरणा जो जागती जाती,
अरे, यह क्या, स्वप्न टूटा फिर अचानक!
वह हो गयी नेपथ्य में जाकर तिरोहित।

*

यदि तुम अग्नि हो...

जिंदगी में मत सड़ो औ कूड़े भांति
धुआं बनकर धुको मत औ उड़ो मत बेकार।
और यदि तुम अग्नि हो तो गगन को छू लो,
चलो, चमको, मुक्त जीवित ज्वाला से साकार।

ताप तेरा दूसरों को उष्मा देगा,
जीवन भले संक्षिप्त तुझको प्राप्त।
धूम्र होना अथवा सड़ना वृथा एक प्रलाप,
वर्षों के सड़ने से क्या कभी होता है लाभ?

*

धरती और नारी

काव्य और गीत हैं समर्पित उसे
और नारी के प्रति है आभारी स्वयं धरती।
भले पतिता हो हव्वा – आदिनारी,
जननी वही है कुल मनुज की,
विश्व उपवन का जो है माली।

धरा नारी रूप धरकर
और चिन्ताएं सभी सहकर

समझ मानवजाति को शिशुवत
सदा करती रही है अग्रसर।

शीत में औ ग्रीष्म में निशिदिन,
स्थान, छांह और देती अन्न।
गोद लेकर करती सदा पोषण,
और कंधों पर उठा दिखलाती गगन।

मनुज इस उपकार को है मानता,
भोर-तड़के में सदा ही जागता।
और श्रम का फल सहज पाता,
नित्य मातृभू का रूप संवारता।

हैं धरा पर लोग ऐसे दुष्ट,
जो हुए इस स्नेह से भी रुष्ट।
विश्वछवि को विकृत कर देते,
तोड़ते तरुशाख, पुष्प कुचलते।

दुष्ट बोते धरा पर बीज विद्वेष के,
पर हर्ष श्रम का विपुल करने
धरा उनको नष्ट कर डाले,
और पुनः मैत्री सुखद हम पा लें।

है धरा में सृष्टि की शक्ति,
जो असीमित पुनर्जीवन सी।
यूं ही नहीं मृत्यु के क्षण में
स्मरण करते मातृभूमि का मन में।

कवि समर्पित सदा करते गीत,
स्त्री, भगिनि, मां और पत्नी को।

क्योंकि नारी और धरती नित्य
रहें, श्रम की मूल जननी जो।

*

हंस

उड़ा है करता पवन संग और दूरियों के पार,
छोड़ चिन्तायें धरा की तुच्छ और निस्सार,
अपार्थिव, ओ राजहंस, अलौकिक तेरा गान,
विहारमग्न तू ऊंचे नभ में अलभ तुप्तमान।

विहार करता गगन में परिकथा सा नित,
या फिर अंधकार में हो दिव्य-ज्योति सा जलित।
पंखधारी वह, उसे नील नभ में विचरण सुखकर,
पंखधारी को कठिन है जीना इस धरती पर।

पर उत्कृष्ट है धरती पर पार्थिव मेरा हंस
अधिकार उसे उड़ने का, जैसे हो राजहंस।
आसमान छूता वह अपने स्वर-गुंजार से
खुश होकर गाता, जाता गीत कठिन सौभाग्य के।

हर निवेश में वह कवि का प्रेरक निःश्वास,
तुषार और उत्ताप में उसका सपना और आस
कि पंक्ति-पंक्ति हो मेरी कविता की हर
निस्पन्दित सौभाग्य से जीवन के, धरती पर।

*

मैं सैनिक हूं...

धन और संगीन से,
आग से और तूफ़ान से

समय परीक्षा लेता रहा मेरे जीवन की।
सैनिक बीमार नहीं मरता,
वह निष्प्राण गिरता है भूमि में रण की।

मुझ पर भी रोगों ने हमला किया मजाक़ में नहीं,
पर उन्हें पीछे हटना पड़ा,
क्योंकि कवि भी,
अज्ञात या विश्वविख्यात,
मरता नहीं, गिरता है रण में – जैसे सिपहसलार!

* ## जुल्फ़िया (जन्म १६१५) *



मातृभूमि हे!
अर्पित सदैव तुझे स्वर मेरे उर के!

इन पंक्तियों में प्रतिभाशाली उज़्बेक कवयित्री जुल्फ़िया के समस्त सृजन का सार व्यक्त हुआ है। पाठक जुल्फ़िया को कोमलतम मानवीय अनुभूतियों को प्रकट करने में सुदक्ष और हर विषय पर लिखने में सक्षम रचनाकार के रूप में स्मरण करते हैं।

मातृभूमि के बिम्ब जुल्फ़िया के कृतित्व में ठोस और काव्यमय हैं। पाठक हरे-भरे उपवनों, पुष्पित अनार के वृक्षों और धवल कपास के विस्तृत खेतों में तत्काल सोवियत उज़्बेकिस्तान को पहचान लेते हैं, जो जनता के समाजवादी श्रम से नवीन रूप ग्रहण कर चुका है। जुल्फ़िया की कविताएं अपनी आत्मीयता व विषयवस्तु की आधुनिकता से पाठकों के हृदयों को जीत लेती हैं। जुल्फ़िया के कृतित्व में मैत्री और शान्ति हेतु संघर्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। १६६७ में उन्हें जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया। १६७० में उन्हें अफ़्रीकी-एशियाई लेखकों का

'कमल' पुरस्कार एवं उज़्बेक जनतंत्र का हम्ज़ा राज्य पुरस्कार मिले। वह सोवियत संघ व अपने जनतंत्र के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेती रही हैं। जुल्फ़िया उज़्बेक जनतंत्र की सर्वोच्च सोवियत की सदस्या, विश्व जनवादी महिला संघ की सदस्या तथा महिला पत्रिका 'सआदत' की प्रधान सम्पादिका हैं।

*

मुशायरा

लो, संध्या हो चली, मिटा दिवस का आतप –
आइये, सब का स्वागत है –
यहां मुशायरा जमा है !
मुशायरा !
यहां अपरिचित अंतरंग हो जाता है।
यहां है हुनर की गरिमा,
यहां सतरों, तुकों की होड़ें लगती हैं,
ठनती है गीत औ काव्य की स्पर्धा,
भाव व शब्द की गहनता – विषय है।
जाने किस प्रखर स्वर की हो विजय ?
कौन सा छंद लिये भावों का संतुलन
होगा अब धन्य-धन्य ?
सुनो काव्योत्सव अनुगुंजन, कवि सम्मेलन –
मुशायरा !

पूर्वी काव्य से खिले चमन का
ताल-मेल खनकता सा,
भावों की स्पष्टता, गहनता,
वांछित है नहीं यहां
सभा-भवन का आडंबर घुटन।
कविवर कृपा कर
जो यहां आये हैं
गीत नील या गंगा के वे लाये हैं।
मंडप चित्रमय –
रंगों का विस्मय,
बने हुए चित्र आम

औ नीलिमा अभिराम !
नीलाभ गगन रंग
बंग सागर तरंग –
घिरता सा आकाश,
दिवस ने गिने श्वास।
तारक दल चमक उठा
गर्व में गमक उठा –
आश्चर्य मग्न से
दीप ये गगन के !
हरित वृक्ष सौरभमय
श्वास मुक्त जीवनमय –
झोंका समीर का,
सागर तटीय सा
सांध्य पवन भर लाया
आर्द्रतामय भाया।
मधुर गीत हुआ मुखर
भारतीय नारी स्वर,
मानो मैना गाती
निकट खींच ले जाती –
प्रेरणा निर्भीक लेखनी ललकारती,
यह काव्य निशा,
मित्रों का जमघट,
मना रहा उत्सव।
यह कवि सम्मेलन,
मुशायरा !

बैठे कालीन पर कविवर आनंद संग,
बुनी है इन्द्रधनुषी पहाड़ी भर सप्तरंग।
सत्य के इच्छुक कवि जिज्ञासु प्रकाश के,
मन के ख़ज़ाने खोलेंगे आज वे –
देख रही मैं भी हूं काव्य का उद्यान –

छोटी-छोटी कलियां औ चिनार हैं महान,
कवियों में तरुण और प्रौढ़ सभी आये हैं,
संहत ये श्रेणीबद्ध, एक मन लाये हैं।
जीवित है आज यहां
पूर्व की परम्परा,
भारतीय मित्रों को
चुनौती –
कैसे दूं भला!
मेहमान, मेजबान
बैठे सुखासन सारे, पलथी मारे
सतरंगी कालीन पर।
पादत्राण खोल दिये पहुंचे जब मंच पर,
जोड़े हैं भिन्न-भिन्न लाये निज रंग भर,
श्रमिक कलाकारों की कला का समादर...
भारतीय चप्पल सुंदर सी कामदार,
चलने पर तलुओं की
लकड़ी महके चंदन सी!
शिल्पकला व्यक्त हुई
इनके माध्यम से,
जादुई भारत की
छाप पड़ी श्रम से –
प्रिय मेरा चाहे तो घूमूं उस देश में
चप्पल पहने मैं भारतीय वेष में।
आये हैं चलकर कवि सुदूर देश के:
लंका, ईरान मिले इस लघु परिवेश में।
दो जोड़े चीन की मटियाली लिये छाप
और बगदादी बाजारों से आई यह पदचाप।
पंजाबी, मंगोली जूतों की एड़ियां,
मुकाबला जूतों से भला करें जूतियां!
पर मेरी नजरें हैं वह जूती देख पाई,
मैंने जो ताशकंद में अहमद के हाथों बनवाई।

कारीगर वह कुशल मेरे ही वतन का है,
धन्यवाद उसका, पड़ोसी वह मेरा है।
सामान बना हाथों से शिल्प यह सुंदर।
छोड़कर काश्मीर आयेगा कारीगर –
होड़ वह लेगा कर इस शिल्पकला से,
शांतिहित होगी वह, यह सदा भला है।
पड़ोसी आये तो स्वागत नित उसका है।
श्वेतकेशी कविवर मंच पर आये।

स्मरण उन्हें भारत के आंसू, दुख जो कभी उठाये,
और अब देखते, ख़ुश होते कि नित प्रगति करता जाये।
ध्वनिविस्तारक समीप चलकर वह आ रहे,
श्रद्धेय स्पर्धा का नेतृत्व पा रहे।
कवि को अन्योक्ति की चाह नहीं,
इष्ट हैं शब्द सदा
आत्मा से निस्सारित।
ऐसी संध्याओं में
बोलते सब एक ही भाषा।
स्वागत है आपका
कवि सम्मेलन में,
मुशायरे में!

मेरी मित्र बुलबुल आई पंजाब से,
गायन में नहलाया हर दिल गुलाब से –
मृदु कोमल छंद है
पर नहीं गुंजन दुर्बल –
माता की शक्ति लिये
और शहीदी रंग भरे।
सुनी कविता नेपाली औ वियतनामी,
ताजिक औ रूसी कविता शांति, मैत्री रसवाली –
प्रेम-सिक्त हर दिल गा उठा अंतरंग,

मानचित्र एशियाई हो गया एकरंग,
सभी देश उसके वे अंग और प्रत्यंग।
अफ़्रीका महान औ प्राचीन
उभर रहा अपनी गरिमा में।
पवन लिये गीतों को
दूर-दूर उड़ता,
हृदय के राग में गीत लिये
पूर्व के कवि आये–
कोई पश्चिम को शांति ललकारे,
कोई पूर्व हेतु सुख की भविष्यवाणी कर जाये।

बंगाली श्वेत वेष धारी
आतुर हो सुनने छंद हमारे–
कविगण आते जायें
अपने सपनों और खयालों को
विश्वास कर हम पर प्रकट करते जायें।
कविताएं सेतु बनी दूरी को पाटेंगी,
परिचय के पुलों से निकट हमें ला देंगी–
सेतु वे समादर के, सत्य और प्रेम के,
मन के संवाहक वे कुशल और क्षेम के,
जनता तक पहुंचाते भावों के माध्यम से,
काव्यरूपी सेतु अचल विगत और आगत के।

हे भारत के समीर!
गुंजन हे गीत के!
कवि और जनता के
समरस संगीत से–
कवि वाणी धमनी सी
जनता के दिल की,
धड़कन समवेत एक
सुदृढ़ सी पलती!

कितनी घनिष्ठ सी,
कितनी है आत्मीय
मित्रों की मंडली,
आत्मवत गहनीय,
बनती विस्तृत सी।

पुत्र अफ़्रीका का आया था,
प्रस्तुत करता शांति गान,
शब्द-शब्द हम पीते
अनुभूत स्वाभिमान–
कितने वे आशा औ पीड़ा से सिक्त स्वर!
अधिकारी वाणी में फ़ौलादी रंग भर।
प्रेम भरे शब्दों में पावन सा था प्रकाश,
रक्तिम थीं शिराएं थामे रवि दीप्त आश।
रोटी औ शान्ति का राग भरा गान में,
आवश्यकता जिनकी है जन के सम्मान में।
कविता है आवश्यकता, शौक नहीं कोरा!
केवल आखेट नहीं अपना मुशायरा!
स्पर्श एक जीवन का
रचना है कर्ममयी!
धन्य हैं कविकर्मी,
धन्य है मुशायरा!
धन्य कवि सम्मेलन!
सुनते हैं गूंज सभी कविता के अधिकारी,
कृषक लिये हल को, लुहार लिये घन भारी।
वे ही तो हैं स्रोत आत्मतत्व का कविता के।
वे रचते हैं सौन्दर्य अन्य विधा में।
कविता नहीं मेहमान सदा की
उनके घर में।
उनके ग्रन्थ–

प्रेम अटल मुक्ति से,
उनकी प्रेरणा–
मुक्ति संघर्ष में।
जिनका श्रम सदा बने सुख सारे विश्व का
वे हों सहभागी से काव्य आराधन के।
वे सब हैं काव्य के अनुरागी सहभागी,
कर्मनिष्ठ कविता के साहसमय समभागी।
उनकी श्रम की शक्ति चमके मशाल सी,
ताकि शान्ति अग्रदूत अंतरिक्ष जीत लें,
और शांति गीतों का कविगण निर्माण करें।
अतः इस मंडप में आये हैं सभी हम,
मिल पायें सुदूर के कवियों से अभी हम,
मिलें काव्य निशि में कवि सम्मेलन में!
मिलें मुशायरे में!

*

नारी का सुख

कौन कह रहा मेरा जीवन एक कष्ट की राह था,
उसी अकेलेपन ने मेरे अंतर को
डाला है चीर
क्योंकि जिंदगी में मेरा था प्रेम नहीं निभ पाया?
नहीं! प्रेम का सुख पाया था, हुई
प्रेम के लिये अधीर!
कौन कह रहा दिल हो जाता शीतल
और कठोर सा यदि नारी के भाग्य में सुख न
लिखा हो?
पर तुम जानो, राष्ट्र हमारा मुझको
सुखी पुकारे, क्योंकि दे रही मैं अपनी
कविता से सबको दिल का प्यार!

क्या वे दिल जो चूक गये हों तारक से
ज्योतिर्मय
पश्चाताप करें यश का जो नहीं कभी मिल पाये?
है यथार्थ आनन्द वही जो प्रणय-विरह में मिलता,
जीवन के प्रतिमान सदा उस प्यार में बंधते जायें।

क्या हो सौख्य एक महिला का? उत्तर दें महिलाएं...
वह आनंद मिला जो मुझको, भला रानियां पायें?
जन-जन का चिर प्रेम मिला है, मैं जीवित हूं सुख में,
मैं लिखती हूं ऐसा, जिससे खुशियां बढ़ती जायें।

जो पथ मुझे प्रणय ने सौंपा, वह नहीं टलने पाये...
कितना सत्य कह रही जनता, "वह है सुखी", बताये।

*

* दाऊद कुगुल्तीनोव (जन्म १९२२) *



सोवियत काल्मीकिया के लोक कवि दाऊद कुगुल्तीनोव का जन्म और दालन-खोवन एक छोटे काल्मीक गांव में हुआ था। युद्ध के कारण काल्मीक राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण कालेज में उनका अध्ययन रुक गया था और वह स्वयंसेवक बन १९४१ में मोर्चे पर चले गये थे।

दाऊद कुगुल्तीनोव ने १९३९ में साहित्य के क्षेत्र में पैर रखा और १९४० में उनका प्रथम कविता-संग्रह 'युवाकाल की कविताएं' प्रकाशित हुआ। कुगुल्तीनोव की कविताओं में उनकी जन्मभूमि की लोककथाओं और रूसी कविता का प्रभाव देखा जा सकता है।

वह एक उत्कृष्ट गीतकार हैं। उन्होंने कई वीर गाथाएं भी लिखी हैं। उनकी कृतियों में मानव के विचार व कर्म की समृद्धि मुखरित हुई है। उनके काव्य में दार्शनिक गहनता तथा सूक्तिमयता और उदात्त सरल चित्रण का अद्भुत सामंजस्य मिलता है।

'मैं हमउम्र हूं तुम्हारा' शीर्षक काव्य पुस्तक के लिए दाऊद कुगुल्ती-नोव रूसी संघात्मक जनतंत्र के गोर्की राज्य पुरस्कार से सम्मानित किये गये हैं।

*

"जीवन-चिन्तन" कविता-वृत्त से

जग का जीवन सदियों लम्बा
पर जला न तू अपना लोभी मन।
लघु है जीवन मानव का–
इसे भूल या अपमान न समझ।
क्षणभंगुर उसे कह-कहकर
जी को तू परेशान न कर।
बुद्धिसंगत मुख जग का
देख लेने को समय है काफ़ी लम्बा।
नियत कर्तव्य करने को
और करने को भला हमें प्रदत्त है
अमरत्व।
अगर सोचो तो,
वह है मात्र क्षण, पर असीम लम्बा।

*

जीवन को चाहे तुम मानो
एक प्रतीक्षा, असीम आशा,
बाल्यकाल से ही सम्भवतः
सुख उज्ज्वल की थी पिपासा–
धूमिल सी सुदूर से आती,
व्याकुल मन करती वह अभिलाषा!

और वरदायी प्रतिफल प्रत्याशा,
समय बीतता, कल की आशा
और वरद उस दिन का सपना!

व्यवधानों को प्रबल कुचलना
और सृजन का प्रकाश भरना,
अश्ववाह सुख सहज पहुंचना।

*

मेरे लघु जीवन की
उत्कृष्ट अवधि!..
तूने विश्व को दी विलक्षण उपलब्धि।
हे महामहिम काल! अल्प से मेरे युग में...
अद्‌भुत घटनाक्रम प्रस्तुत हुए विश्व में:
महानद बांधे अनेक, बढ़े तारक दिक् में,
निर्भय हो अणु को तोड़ा मानव ने...
ललक असीम उसकी जीवन में!..

कालपुरुष हे!
उसे कुछ और दे दो!
शिक्षित कर राज्यों व जन को,
आपस में सहमति सद्‌भाव व्यक्त हो,
परस्पर आदर हो, मार्ग भले व्यस्त हो—
नहीं रात्रि में अंध रेलों सी टकराहट हो,
भीषण दुर्घटना में मानव आहत हो!

*

लेनिन

सोचता था, शक्ति भर काम करता था,
सब की भांति,
दिव्य कठिन निर्माण में।
सब की भांति,

घर लाता था मेहनताना
और राशन पाता था वैसा ही, थोड़ा सा।
अपने को उसने लोक-नायक नहीं कहा,
पर नायक था जन-जन का, युग-युग का।

शायद यही है अर्थ उच्च आदर्श का—
आचार में सदा मनुष्य बने रहना
पर कर्म में सबसे आगे बढ़ जाना,
प्रज्ञा में सदियों के ऊपर उठ जाना
और समझना जीवित सम्बन्ध युगों के—
जीना पर इंसानियत नहीं छोड़ना।

*

सुख और दुख

कभी विजय, यश दूत सरीखे,
तुम थे श्वेतकेशि से दिखते—
काल्मीक जादूगर उस लोक-कथा के,
मानव सुख को मुझे भेंट करे—
बराबर-बराबर कर टुकड़े उसके,
वितरित किया मनुज के उर में।

कैसा हो यदि एक पिण्ड में
सारे मानव दुख वह संचित करे,
कि व्यथित हृदय में अपने भर सकूं,
जग के सर्व कष्ट धारण कर सकूं,
फिर अपने उर में आग लगाकर,
भरूं विश्व में ज्योति अनश्वर।

*

*

मेरी स्तेपी, कितनी सुंदर तू अप्रैल में!
स्फटिक नाद सा मधुर पवन के संचालन में—
लवा की प्रिय मंद घुंघरू ध्वनि!
तू संगीत राग सी गुंजित थी सुदूर में,
मानो प्रतिभा विस्मृत सी थी कोई,
उसने किया व्यक्त तुझे दीप्त कंदपुष्पों में।

मैं हर्षित हूं पाकर तेरे स्वर का स्पंदन,
मैं मानव हूं, मेरी आत्मा में संप्रेषण!
सुंदरता के सुख का मार्मिक सा हृत्कंपन...
अथवा इसलिए ही हूं मानव मैं कि
आत्मा को आलोड़ित करता सुमधुर गायन।
कितना भला!.. अरे श्रेष्ठ कितना है जीवन!

*

मुझको नहीं मृत्यु का भय है।
हुआ भूमिगत, यह निर्णय है—
पुनः कभी देखूंगा जग को,
क्या उसमें विस्मय है?
बीज सरीखा उग जाऊंगा,
पंछी जैसा लौट पड़ूंगा,
विहगगान में मैं चहकूंगा।
मन में है केवल यह भय,
हुआ भाग्यवश कहीं मिलन उससे,
मीत पुराना, वेष नया यह ... उसे पुकारूंगा कैसे,
मैत्री-स्वागत करूंगा किस स्वर में?
खोकर मनुष्य की वाणी,
खोकर यह अद्‌भुत देन।

*

* नबी हाज़री (१६२४) *



सोवियत आज़रबैजान के प्रख्यात कवि नबी हाज़री का जन्म बाकू नगर के समीपवर्ती ख़ुर्दालान गांव में हुआ था। उन्होंने मास्को के गोर्की साहित्य संस्थान में शिक्षा प्राप्त की। सन् १६४४ से अब तक हाज़री की १५ से अधिक पुस्तकें मास्को व बाकू से प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी कविताओं का अनुवाद अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में हुआ है।

हाज़री की कविताओं में मातृभूमि के प्रतिबिम्ब और मानव श्रम की गरिमा झलकते हैं। उनके काव्य में अगर एक ओर कारख़ाने की धुआं छोड़ती चिमनियों के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर मिन्गेचाउर जलाशय की लहरों की छपछपाहट भी सुनाई देती है। धरती के साधारण लोग ही कवि के मित्र एवं उनकी कविताओं के नायक हैं। कवि उनके भाग्य तथा भविष्य से आंदोलित होते हैं और संसार भर के समस्त अभागे लोगों से अपनी गहरी संवेदना दिखाते हैं। उनका विश्वास है कि एक दिन ये सभी लोग अपने सुख का मार्ग प्रशस्त कर लेंगे।

*

बहार

कवि सी बहार जग गई
पौ फटते
और शीर्षक लिख गई—
"उषा"—

और उठंग कर
नदी किनारे चट्टान से डूब गई
सोच में:
पहली पंक्ति क्या लिखूं?
फिर निश्चय किया:
जो है, सब पुराना है!
फिर सूरज में कलम डुबा
लिखने लगी किरणों से कविता
पहाड़ियों पर,
घाटियों पर,
बाग़ों और मैदानों पर।
फैला गई झाड़ियों पर
सूर्योदय की वेला में
नुकते ढेर सारे ओस के।
और चीड़ विस्मय चिह्न
तैयार हो गये आक्रमण को
पहाड़ी ढलानों पर।
हरी पत्ती या फूल, कुछ भी ले लो;—
यह सब, मेरे मीत,
वसन्त के हैं गीत!

*

चुप्पी की
अपनी भाषा है?
और हर टूटी टहनी की
अपनी चीख़।
हर गिरते शरद पत्र का—
अपना प्यार,
अपने विचार और अपनी टीस।

कान लगा कर सुनो
जलधारा का बहना
और ग़ौर से देखो
दूर सितारों का जलना।
अकारण ही नहीं
जल फुसफुसा रहा!
अकारण ही नहीं जल रहा सितारा!

मेरी इच्छा है
कि हर कोई मुझे सुने,
कि मुझे देख कर आपको
एइलागी की याद आये।
कि मुझे देख कर आपको
पहाड़ी हवा
और सागर की गर्जना याद आये।

मैं प्रकृति को सुन रहा हूं।
मैं चुप हूं।
मैं उसके ही समान
सत्यबद्ध होना चाहता हूं।
सर झुकाये
सजग हिरन सी
मुझ पर नज़र गड़ाये है
ख़ुद प्रकृति।

ग्रौर युवति
नदी की ग्रोर उतर रही है।
बाल्टी
उसकी झांई पड़ी बांह में है।
ग्रौर दूर गूंज रहा है
किसी का गीत
निर्मल सांस सा
धरती की।

प्रकृति,
तू ग्राकाश में चील बन उड़ती है,
तू बोलती है
पत्तों के मर्मर में।
तू स्वर्णिम धूप सी,
निर्मल ग्रौर तेजस्वी,
पर ग्रनाथ है तू –
बिना ग्रादमी के।

*

कोई राह देखता ग्रपनी

जल प्रवाह थपेड़े खाता, हेम होते पर्वत वक्ष,
शीत उन्हें सुलाता है, ग्रीष्म खोलता उनके ग्रक्ष।
निद्राविहीन हैं सिर्फ़ लोग-बाग,
उन्हें खींचती चिन्ताएं ग्रौर काम-काज।
हम ग्रादमी हैं; देखता रहता है कहीं
कोई हमारी राह।

ग्रधीर हैं जो हमारी प्रतीक्षा में
लगते उन्हें हम दूर के सपनों से,

कोई गीत, कल्पना या फिर कविता से।
किसी के लिये हैं हम शुभ-शकुन से
कि थकता है कहीं कोई हमारी राह तकते।

उदास मानव के लिये बाग करते मर्मर,
खिल उठेगी धरती, होगा जहां हमारा मिलन।
ग्रौर मीत रखेगा हाथ हमारे कन्धों पर।
सुबह से शाम तक ग्रौर शाम से सुबह तक
देखता कहीं कोई हमारी राह ग्रथक।

मिलते हैं जीवन-पथ एक दूसरे से,
मिलते हैं हाथों से हाथ ग्रौर होठ होठों से।
मिलन क्षणिक होता है, लम्बे क्षण विरह के!
पर चिन्ताएं खींच ले जा रहीं
फिर हमें ग्रौर कहीं कोई
हमारा इन्तज़ार करता है राह पे।

*

मौन के क्षण

ग्रेनाइट ग्रौर बाज़ाल्ट की चुप्पी
पेर' लाशेज़ में*
कहीं शक्तिशाली है शब्दों के ढेर से।
यहां मुझे घूर रही हैं
ग्रांखें बालज़ाक की
ग्रौर हज़ारों दूसरी ग्रनश्वर ग्रांखें।

---

* पेर' लाशेज़ – पेरिस की एक कब्रगाह, जहां सन् १८७१ में पेरिस कम्यून के पतन के बाद ग्रनेक कम्यूनार्दों को गोली मार कर दफ़न कर दिया गया था।

ग्रौर पूर्वज झपकियां ले रहे हैं यहां।
उनकी नींद दबी पड़ी है
शताब्दियों के बोझ से,
जैसे ताबूत के ढक्कन से...
ग्रौर चुप बैठे ग़द्दार चिर गाथा के
भूल चुके हैं
भयंकर ग्रांधी,
वे चबा रहे हैं बीफ़-स्टेक ग्रौर लांगेट।
चबा रहे हैं।
चबाने दो उन्हें!
पर मृत, जो उनके लिये मिथक बन चुके हैं,
हमारे लिये–
जीवित हैं, ललकारते से,
जी रहे हैं!

बोलो फिर, पत्थरो,
बोलो
उनके बारे में,
जो यहां दफ़न हैं गोली के शिकार बने,
उनके बारे में,
जिनका रक्त ग्रब भी ग्रेनाइट पर
धधक रहा है
ग्रवशेष सा भयंकर ग्राग के।
चुप्पी साधे हम देख रहे हैं...

पर हठात्
गायब हो जाती है चुप्पी, मानों कभी थी ही नहीं,
ग्रौर फिर से–यहां संघर्ष है,
ग्रौर फिर से–तोपों की गर्जनें हैं,
ग्रौर फिर से–दीवार के पास खड़े कम्यूनार्द हैं।
सन्देशवाहक महान युग के,

पूर्वाभास से पवित्र जय के
वे चीख रहे हैं:
"कम्यून–जिन्दाबाद!"–

वे शब्द, जो गोलियों से दागे गये।
ग्रौर पुनः मौन...
सिरपेंचे की बेल के सजीव मेहराब
ग्रौर ऊपर पंछियों के गीत
ग्रसीम नीलिमा में...
पर जनता के घाव हैं ताज़ा,
जिनकी याद दिलाते
पत्थर की इस प्राचीर पर ग्रंकित
गोलियों के निशान!
वे घाव कुरेदे जा रहे हैं,

मानो कारतूस जहरबुझे थे,
जिससे घाव रिसते ही जा रहे हैं।
उनकी पवित्र पीड़ा
हज़ारों दिलों को चीर रही है।
ग्रौर हमारी स्मृति ने
सुरक्षित रखा है उनको शताब्दियों से,
जैसे सुरक्षित है
यह धरती की पीड़ा...

मेरे दिल में भी
एक घाव है
जो लगा था–
ग्रख़चा-कुइमे में...
दहकते सूरज के तले,
ग्रत्यंत भयंकर
ग्रौर तेज़ तूफ़ान

रेत की लहरें मंडित करता हुआ—
बाकू के कम्यूनार्द भी खड़े थे
जैसे इसी दीवार के पास,
पैरिस की क़ब्रगाह में।

ठीक उसी भांति वे भी एक स्वर में
कहते सुनाई दिये यौवन के मद में,
पवित्र पर्व का वहां उद्घोष करते हुए—
"कम्यून ज़िन्दाबाद!"
वे शब्द जो गोलियों से दाग़े गये।
ग्रौर मुझे लगा
कि उन पर रोते हुए
मैं भविष्य के प्रति ग्राश्वस्त हुग्रा
ग्रौर ज़मीन पर से मैंने लहूसना कुरता उठाकर
उसे संघर्ष का ध्वज बना लिया!

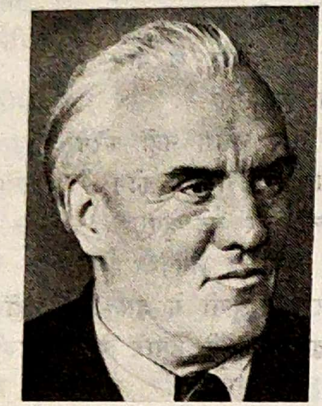
भागने दो सभी कायरों को
बेशर्मी में मोरचों से।
हमने जो प्राप्त किया
उसे नहीं छोड़ेंगे
ग्रौर उन्हें नहीं भूलेंगे
जो वहां, पेरिस में वीरगति को प्राप्त हुए
ग्रौर यहां, रेगिस्तान में,
ग्रख़चा-कुइमे के पास!

तुमने भी गोली चलते समय
गाये थे गीत,
ग्रौर उसी पवित्र भावना से
उन शब्दों के प्रति ग्राश्वस्त भी हुए थे,
पर तुम सफल न हो पाये विजय प्राप्त करने में।
हम जीत गये हैं—
ग्रौर ग्राये हैं तुम्हारे पास।

पेर' लाशेज में
बच्चे ग्रौर बूढ़े
चल रहे हैं मौन हरियाली के बीच।
मानों पूरी शताब्दी का शब्द
क्षण है दीवार के पास
मौन का।
हम नींद हराम नहीं करेंगे
भाषणों से मित्रों की।
सरल, पर डटे हुए,
हम चुप रह लेंगे,
ग्रौर जो चुप्पी से हम सिद्ध नहीं कर सकेंगे—
सिद्ध कर देंगे हमारे ये ग्रर्पित फूल।

*

* निकोलाई तीख़ोनोव (१८९६-१९७९) *



निकोलाई तीख़ोनोव क्रांति जनित कवि थे।

"मैं स्कूली बालक ही था जब मैंने ९ जनवरी, १९०५ के ख़ूनी रविवार की घटनाओं को देखा और अठारह वर्ष की आयु में सैनिक बनने पर जाना कि विश्वयुद्ध का क्या अर्थ होता है। मैं लाल सेना में उसके जन्म के वर्ष में ही भरती हो गया था।" उनकी आत्मकथा से उद्धृत इन शब्दों से निकोलाई तीख़ोनोव के कृतित्व की विषयवस्तु का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। साथ ही तीख़ोनोव शान्ति व जनगण के बीच मैत्री के अडिग सेनानी और विश्व शान्ति परिषद के प्रबंध-मण्डल के सदस्य भी थे। एक ही व्यक्ति में इन दो व्यक्तित्वों का, सैनिक और शान्तिदूत का सामंजस्य कैसे हुआ? इस प्रश्न का कवि ने स्वयं ही उत्तर दिया है: "एक सैनिक के तौर पर चार युद्धों में भाग लेने के बाद मैं विश्व शान्ति के इस उदात्त आन्दोलन से तटस्थ न हो सका।" इन शब्दों में एक महान ऐतिहासिक सत्य समाहित है। तीख़ोनोव की उच्च कोटि की शौर्यगाथाएं शक्ति तथा पौरुष का यशगान करती हैं, परन्तु न्याय की शक्ति तथा न्याय के पौरुष का ही। वह इस शताब्दी के तीसरे दशक में ही

'ओर्दा' ('बर्बर') और 'ब्रागा' ('द्राक्षासव') शौर्यगाथाओं की रचना करके उत्कृष्ट कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

तीख़ोनोव का एक विलक्षण झुकाव था—पर्यटन। काकेशस, मध्य एशिया व पूर्व के सभी देशों में वह सुप्रसिद्ध हैं। उन्हें सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में रचे काव्यों का रूसी भाषा में रूपांतर करने में निपुणता प्राप्त थी। साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओं के लिए उन्हें समाजवादी श्रम वीर की उपाधि से विभूषित किया गया। वह लेनिन पुरस्कार तथा जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार के विजेता थे।

*

कुरता

सुंदर लाये वे उपहार–
श्वेत कबूतर औ रूमाल।
सभाभवन में लहराते ध्वज
जैसे नीली नदी विशाल।

रैन-दिवस बहती ध्वजलहरें
उष्ण प्रकाशपुंज में फहरें।
लगता उस शांतिकक्ष में
कहो निशाएं कैसे ठहरें!

एक आदमी आ चढ़ा मंच पर,
चेहरा उतरा, आंखें क्लांत,
मानो घोर अंधकार से हो निकला
और निशा ले आया साथ।

"मित्र मेरा–परागुए का शांति-योद्धा
रहा नहीं अब मेरे साथ।
मरा राह में हत्यारों से–
उसका अभिनंदन लें आप!"

सन्नाटा था सभाभवन में
खड़े हुए सब थे उस क्षण।
लहूलुहान कुरता वह शहीद का
नील निशा में देख सम्मुख।

रक्तरंजित चिथड़ा लिए मित्र से
मौन खड़े हम रहे चित्र से।
हुए विचार सभी केंद्रित से–
'संग्राम' मूर्त था इस कुरते में।

*

सिन्धुनद

हर्ष हुआ था देख अटक में,
प्रबल सिन्धुनद महत शक्तिधर।
थी असीम सी उसकी धारा,
भूमि का करती मन प्रसन्न।

देखा उसका विकट उफान,
ऊंची लहर श्वास अवसान।
प्रबल वोल्गा का ले नाम
अर्पित किया स्वास्थ्यहित मान।

*

रावलपिंडी पार के पर्वत

मैदानों की गर्मी ने
हमारे गाल ऐसे तपा डाले कि वे काले पड़ गये।
पांच दिन पहले
हमने मास्को में चमकती बर्फ़ देखी
पर आज,
रावलपिंडी के पार
सुर्ख़ रंग के पहाड़ देखे।
कह नहीं सकते हम
वह कैसी अजीब लालिमा की झाई है!

कितनी सुंदर है उनकी आभा,
उन कल्पनामय पहाड़ों की, जिनसे
हम गुज़रे हैं!

हम देखते हैं मौन में,
पहाड़ दृष्टि से हटते व ओझल होते।

आनेवाले दिनों में
वे मेरे स्मृतिपटल पर अंकित रहेंगे।
इसका अर्थ यह नहीं
कि प्रकृति के वैचित्र्य से हमें चिढ़ है;
फिर भी, मैं क़िस्सा कहूंगा
एक पर्वतीय दर्रे का,
मैंने सुना है इसके बारे में
पर देखा नहीं इसे।
एक पहाड़ी आदमी ने मुझे इसकी कथा कही...
है दर्रा वह हिंदुकुश में।
मार्गचिन्ह स्वरूप वहां
पत्थरों का एक ढेर पड़ा हुआ है।
ऐसा विश्वास है कि

हर इन्सान
जो वहां से गुज़रता है-
भोर के हलके प्रकाश में-
उस ढेर पर रखता है
एक पत्थर,
जो धन्यवाद का चिन्ह है-
कि उसने वह ऊंची चढ़ाई
सहीसलामत पार की...
"एक कारवां गुज़रा था
एक बार उठते तूफ़ान का सामना
करते-

घुटनों तक की बर्फ़ थी
और सभी ढाल ढक गये थे
सफ़ेदी से।

कोई भी मुसाफ़िर अब तक
दर्रे को ऐसे हालात में नहीं देख
पाया था।

"घोर दुर्भाग्य
हमारे माथे पर गिरने वाला है,
एक अपशकुन सा,
ज़रा देखो घूमकर!" पहाड़ी बोले।
कारवां के सरदार ने व्याकुलता से
अपनी अंगुलियां चोगे पर
पोंछीं
और हलके से अपनी लाल दाढ़ी पर
हाथ फेरा।
लोगों ने खाना बीच ही में छोड़ा।
ख़ामोशी छा गई।
और उन्होंने उसे कहते सुना,
पत्थर बर्फ़ से ढंके हैं,
तुम लोग ठीक कहते हो-
किसी भारी कहर का चिन्ह सा लगता है
इस घटना में,
बर्फ़ ने दुखभरी कहानी पहले से ही
कह डाली है!"

दूर से ख़बर आई-
ऐसी दुखभरी ख़बर कितनी जल्द फैली!
वाखान और रोशन से,
पामीर से होकर ख़बर मिली।

एक तंग पहाड़ी घाटी में
हमको ख़बर पहुंची –
महान जन नेता
इस जग से उठ गये!
दूर उत्तर में,
मास्को में उस दिन लेनिन की मृत्यु हुई।
जीवन की धुंधली चोटियों के पार
उन्होंने राह दिखाई थी
भावी पीढ़ियों को,
जो सबको अपनानी चाहिए।

लेनिन ने लोगों के ज्ञान को कई गुना बढ़ाया –
उनका काम सदा
अमर रहेगा।
इस कारण
आज इस दर्रे को छोड़ते समय हर मानव
अपने हाथ से एक पत्थर
रखे लेनिन के स्मरण में।
... साल पर साल गुज़रते गये उत्तुंग चट्टानों में,
जहां बर्फ़ीले तूफ़ान गरजते और
तुषार नींद में जम जाते हैं,
और हर यात्री एक पत्थर रख देता है
उस वीरान दर्रे पर।
मेरी भी कामना है,
पर जाने वह पूरी हो कभी अथवा नहीं,
कि मेरा भाग्य मुझे दिखाये
वह दूर का पहाड़ी दर्रा
जहां मैं भी एक पत्थर रखूं ...
बस, अब आप जान गये वह कहानी,
जो मैंने सिंधु तट पर कभी
सुनी थी।

बस, इतना ही कहना है।
मैंने पूरी कोशिश की है इसे सादे
ढंग से लिखने की ...
रावलपिंडी के पार उन लाल-से अजीब
पहाड़ों के बारे में
मैं फिर कभी कहूंगा,
जरूर,
मगर फिर कभी ...

*

सोवियत ध्वज

झंडा दीप्त अग्निपुंज सा,
उषाकाल सा महिमावान
जिस पर काम ज़री का उभरा
लिये चमकते तीन निशान –
सुघड़ हथौड़ा – श्रम स्वतंत्रता,
अंकित हंसिया – विजयी किसान,
पंचकोणमय रक्तिम तारा
मंडित ज़रदोज़ी का काम।

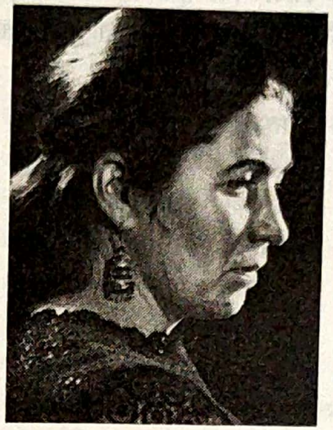
जन की घोषित विजय शत्रु पर
जनता के भुजबल से,
शत-शत जन यह रक्तिम ध्वज
लहराते अपने ऊपर से,
सबसे ऊंचे शिखरों पर,
सबसे दूर दिगन्तों पर,
घर, खेतों व नगरों पर,
अगणित लहर हिलोरों पर।

इसमें मानव का अभिनंदन –
जग में नहीं सरल ऐसा ध्वज,
इसमें लाल बिम्ब कीर्ति का,
जग में नहीं लाल ऐसा ध्वज,

इसमें हमारी शक्ति अमोघ –
जग में नहीं सबल ऐसा ध्वज,
इसमें सत्य सिद्ध रक्तिम युग,
जग में नहीं सत्य ऐसा ध्वज!

*

* फ़ाज़ू अलीयेवा (जन्म १९३२) *



सोवियत दाग़िस्तान के सुदूर गांव में एक सरकारी कर्मचारी के घर में एक बालिका ने जन्म लिया। माता-पिता ने नाम रखा फ़ाज़ू। कठोर और जादुई पर्वतों में पली इस कन्या ने सोवियत विद्यालय में शिक्षा पायी और उसका चरित्र भी सोवियत युग में ही ढला। बड़ी होने पर उसने कविताएं लिखना आरम्भ किया। उनके माध्यम से कवयित्री ने अपनी जनता के विचारों, परम्पराओं, बुद्धिमत्ता तथा आत्मिक सौंदर्य को अभिव्यक्त किया।

फ़ाज़ू अलीयेवा के काव्य, लघु कथाओं और उपन्यासों के रंगों की ताजगी और भावों की सहजता ने पाठकों के मन हर लिये हैं। उनकी मुख्य विषयवस्तु मानव की गरिमा और मानव का जनता के प्रति कर्त्तव्य-बोध है। इसकी अभिव्यक्ति कभी लोक-कथा, तो कभी सूक्ति अथवा गीतिमय कथा के रूप में होती है। अलीयेवा की कृतियों में दाग़िस्तान के भव्य दृश्यों – गौरवशाली पर्वतों व वेगवती धाराओं – का, इन अंचलों के निवासियों के रीति-रिवाजों व परम्पराओं का, उनके "नामूस", यानी आचार-पद्धति का रंगारंग चित्रण हुआ है।

फ़ाज़ू अलीयेवा एक कवयित्री, गद्य लेखिका और व्यक्ति की हैसियत से अपने पाठकों में बड़ी लोकप्रिय हैं। उन्हें दाग़िस्तान की लोक कवयित्री की उपाधि से विभूषित किया गया है। वह निकोलाई ओस्त्रोव्स्की पुरस्कार प्राप्त कर चुकी हैं और दाग़िस्तानी स्वायत्त सोवियत समाजवादी जनतंत्र की सर्वोच्च सोवियत की सदस्या हैं।

*

मैं प्रमुदित कन्या दाग़िस्तान की

मैं प्रमुदित कन्या दाग़िस्तान की,
गहन कंदराएं मेरा पलना,
चरागाह की हरी चदरिया,
बादल मेरा सुखद सिरहना।
लोरी गाकर मुझे सुलातीं
गिरि-नदियां,
जो झरनों सी बहतीं,
पर्वत अंचल की गूंज निनादित,
और झंझा, जो गाती रहती।
मैं प्रमुदित कन्या दाग़िस्तान की
देखूं नक़शे में निज देश,
दाग़िस्तान दिखता लघुनद सा
जोड़ रहा जो जलधि अशेष।
उत्तर छोर श्वेतसागर का
दक्षिण कृष्णसागरी छोर,
महासागरी लिये मित्रता
गूंजें लघुनद स्वर-हिल्लोर।
मैं हूं
कन्या दाग़िस्तान की
स्नेहराशि लिये अनन्त,
इस सागर पर स्नेह वारती
प्रतिस्नेह पाती अत्यंत।
...घर से जब मैं दूर निकलती –
दिखता सोवियत देश विशाल।
करते रुपहली मछलियों से मेरा
वोल्गा के मछुए सत्कार।

पेड़ कभी रोपे जो मैंने,
फूल रहे अब प्रशान्त तट पर,
पी रहे दाग़िस्तानी मद्य ध्रुववासी
कृष्ण शीत के रात्रि प्रहर।
बाकू के उस्ताद हस्तकुशल
मुझे बना देते चप्पल,
इवानोवो की बुनकर कन्याएं
नव घाघरी छाप रहीं चंचल।
सहलाती धूप क्रीमिया तट की
और मास्को देता आमंत्रण ...
घर मेरा विस्तृत, असीम है,
वार रही उसे
सब कर्म-वचन।
मैं प्रमुदित कन्या दाग़िस्तान की!
स्वर मिले हैं मुझे जन्म से।
गुंजन करती, अलख जगाती
मिलती हूं मैं देशार्णव से।

*

क्यों मढ़ते हो दोष भला,
कि यह बचकाना, यह चंचलता?
क्यों कहते हो
मुस्कानों पर
और ख़ुशी पर हो पहरा?
क्यों कहते हो
दुख भोगना
और तड़पना है नारी धर्म?
क्यों देते उपदेश मुझे तुम
कि रोक रहूं वाणी का कर्म?
जैसी मैं हूं, रहूं वही नित–
उत्साहभरी, स्वच्छंद सदा!

पूछो उन धीर, उदास वनिताओं से:
हैं सुखी यदि वे धन्या?
शर्त लगाऊं यदि उनके पति
उन्हें न कोसें कि वे हैं अति गम्भीर!
कहते हैं
नारी की शोभा बढ़ती है
जब होती हैं वे प्रफुल्ल समीर!

*

जब तुम होते हो दूर

जब तुम होते हो दूर
और मैं–अकेली घर में,
मुझे दिखती हैं
सागर की नीली लहरें।
शायद इसलिये
कि कर असीम प्रेम तुमसे,
अलग नहीं कर पाती तुमको
मैं अथाह सिन्धु से।
जब तुम होते हो दूर
और मैं–अकेली घर में,
मुझे दिखते हैं अक्सर
ऊंचे, हिम आच्छादित पर्वत शिखर।
शायद इसलिये
कि मैं अभी भी
अलग नहीं कर पाती तुमको
इन ऊंचे पर्वतों से।

और मैं कृतज्ञ हूं
अथाह सागर की।

और ये शब्द हैं
जो उससे कहती हूं :
धन्यवाद है तुझे
कि मेरा प्रियतम
स्वभाव से इतना समान है
तेरी गर्म, खलबलाती लहरों के।

और मैं कृतज्ञ हूं
ऊंचे पर्वतों की।
और ये शब्द हैं
जो उनसे कहती हूं :
धन्यवाद है तुझे
कि मेरा प्रियतम
स्वभाव से इतना समान है
उत्तुंग शिखरों के।

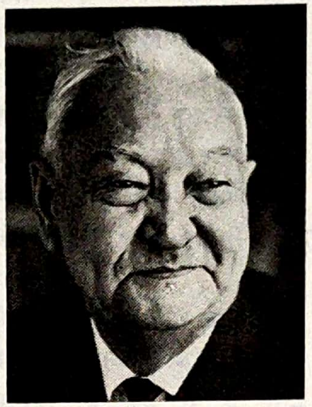
*

कितनी चट्टानें हैं दाग़िस्तान में?
पता नहीं। कभी गिना नहीं मैंने।
पर जिधर भी देखूं, हैं चट्टानें,
हर तरफ़ नज़र आती हैं कठोर चट्टानें।

और कितने हैं वीर पर्वत-अंचल में?
पता नहीं। कभी गिना नहीं मैंने।
पर गांव-गांव में, शहर-शहर में
नज़र आते हैं मुझे नित प्रति दिन वे।

*

* बेर्दी केरबाबायेव (१८९४-१९७४) *



समाजवादी श्रम वीर, दो बार सोवियत संघ के राष्ट्रीय पुरस्कार से विभूषित, तुर्कमान सोवियत समाजवादी जनतंत्र के मख़्तूमकुली राज्य पुरस्कार विजेता तथा सोवियत तुर्कमानिस्तान की विज्ञान अकादमी के सदस्य, सम्मानित विज्ञानकर्मी, तुर्कमानिस्तान के लोक लेखक बेर्दी केरबाबायेव का जन्म १८९४ में एक छोटे से तुर्कमान गांव में हुआ था। १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति के पूर्व भावी लेखक ने एक मदरसे में और क्रांति के बाद लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी। उन दिनों, जब बेर्दी ने अपना जीवन-पथ शुरू किया था, तुर्कमानिस्तान में पढ़े-लिखे लोग मुश्किल से हज़ार में एक थे। शुरू में बेर्दी केरबाबायेव ने अख़बारों व पत्रिकाओं में काम किया। वह जनतंत्र के प्रथम शिक्षा-प्रचारकों में से एक थे और बरसों तक तुर्कमान जनतंत्रीय लेखक संघ के अध्यक्ष रहे।

बेर्दी केरबाबायेव सोवियत तुर्कमानिस्तान के एक सुप्रसिद्ध कवि रहे

है। वह पहले लेखक थे, जिन्होंने तुर्कमान भाषा में नाटकों की रचना की तथा रूसी, फ़ारसी और अरबी भाषाओं से अनुवाद किये। इनके सुविख्यात उपन्यासों – 'निर्णयकारी कदम', 'नेबित-दाग़' और 'जादुई जन्म' द्वारा आधुनिक तुर्कमान यथार्थवादी गद्य की आधारशिला रखी गई।

*

लेनिन

कांस्य युग के समारम्भ से
अपने इस युगपर्यन्त कभी
नहीं जन्म पाया मानव ने,
जो इतना प्रिय, आत्मीय, सुधी।

कैसी शक्ति अपूर्व मानवी!
जातिभेद सब तोड़ दिये,
श्रमिकों के मुख में दे नारा,
महाद्वीप थे जोड़ दिये...

हैं महान व्लादीमिर लेनिन,
नहीं शान की कोई बात –
सीधे, सच्चे और अनश्वर
इल्यीच सदा जनता के साथ!

*

सूक्तियां व लोकोक्तियां

ठोस कई कारण हैं जिससे ऐसा तुम मत करना,
अपनी पदवी और पद की तुम कभी न शेखी भरना।

बूढ़े और जवान रखें सदा यह याद,
वे भी याद रखें सदा, जिन्हें नाम की चाह:

मानव बन पाना जीवन में –
सबसे बड़ी साधना जग में।

जीवन का हेर-फेर चंचल
चलाता भाग्य-चक्र निरंतर
औरों के लिए जो रचता षड्यंत्र
फंसता है एक दिन ख़ुद के कुतंत्र।

वंश चला आता है लेकर चिन्ह स्वयं के साथ
शुभ से शुभ औ अशुभ से अशुभ सदा हुआ है प्राप्त।

यदि चाहो आदर करना सफ़ेद बालों का,
जिक्र न करना मेरे बीतते सालों का।
अपनी प्यार भरी विनीत बातों से,
न चाहो, मित्र मेरे, दिन कटें शांति से।

अभी मैं युवा हूं, अब भी कुछ हूं,
सुंदरियों के सौंदर्य में अब भी क़ैद हो जाता हूं।

सफलता – बुड्ढा बंजारा,
गुणज्ञ के पास सदा है आता।
प्रतिद्वंद्वी गर बढ़ जाये आगे ईमान से,
अड़ंगा न डाल, दिलदारी जता दे।

यदि लगा ईर्ष्या का घुन,
आयी मौत समझो तत्क्षण।

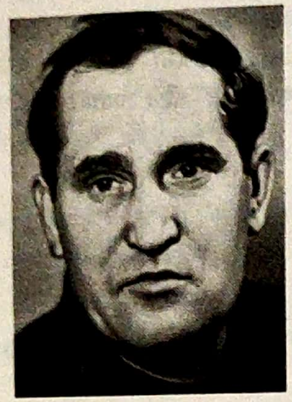
कण्ठफाड़ू का कण्ठ मजबूत,
चाल उसकी महाराजा जैसी
पर कण्ठ की जगह काम आता सर,
कण्ठ की जरूरत नहीं वैसी।

उस्ताद है चिल्लाने में गधा,
पर सभी जानते वह गधा निरा।

धन व्यय करना सरल बहुत है, मुश्किल उसे कमाना,
घर तोड़ना आसान, मुश्किल उसे बनाना,
सरल बहुत मेंढा खा जाना, मुश्किल उसे चराना।

कठिन नहीं है कभी मित्र को अपना शत्रु बनाना,
मगर कठिन है बेहद ज्यादा शत्रु को मित्र बनाना।

* मिख़ाईल लुकोनिन (जन्म १९१८) *



विख्यात सोवियत कवि मिख़ाईल लुकोनिन का जन्म वोल्गा तट के अस्त्रा-ख़ान नामक शहर में हुआ था। १९३७ में स्तालिनग्रद के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में उच्च शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने मास्को स्थित गोर्की साहित्य संस्थान में अध्ययन किया।

साहित्य के क्षेत्र में मिख़ाईल लुकोनिन का प्रवेश एक सैनिक कवि के रूप में हुआ था। उन सामरिक दिनों से लेकर अब तक उनके बीस से अधिक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें से विशेष लोकप्रिय हैं – 'मजूरी का दिन', 'शान्ति का पथ', 'गीतिका', 'निवारण' और 'आवश्यक'। 'मजूरी का दिन' के लिए मिख़ाईल लुकोनिन को राज्य पुरस्कार मिल चुका है। सोवियत साहित्य के विकास में सक्रिय योगदान के लिए उन्हें कई पदक भी प्रदान किये गये हैं, जिनमें लेनिन पदक विशेष उल्लेखनीय है।

मिख़ाईल लुकोनिन साहित्यकार के अतिरिक्त सक्रिय सामाजिक कार्य-कर्त्ता भी हैं। वह कई केन्द्रीय साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादक-मंडलों के

सदस्य और रूसी जनतंत्र के लेखक संघ के सामाजिक आयोगों के सदस्य हैं। आजकल वह सोवियत लेखक संघ के प्रबन्धकारी सचिव, रूसी जनतंत्र के लेखक संघ के प्रबन्धकारी सदस्य तथा सोवियत लेखक संघ के राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष हैं।

*

तू सांत्वना नहीं है,
न ही आभूषण।
मैं आभारी हूं तेरा आजीवन।
तू ज्योति है
या नवजीवन,
शब्द नहीं ढूंढ़ सका हूं अब तक।
तूने दिखाया मुझे धरती का सौंदर्य
और वोल्गा का बहाव मोड़ा है मेरे हृदय तक।
तूने मुस्कान भरी, यूं स्नेहसिक्त
मानो उपहार में दिये मुझे दो पंख।
मेरी ज्योति,
मैं सदा सोचता हूं–इस बारे में।
क्या किया था मैंने कि देख सका
ज्योति से आप्लावित तेरी आंखें
और बल खाती ज्योतिर्मय तेरी लटें।
हाथों में लेता हूं तेरी क्षीण कलाई–
धन्यवाद तुझे, जीवन!
पुकारता हूं तुझे :
चलें–
हिम-रज में कटि तक डूबे हुये–
कठिन समय में।
और घुटनों तक फूलों में–
मधुर ग्रीष्म में।
तू पलायन नहीं है,
न ही आदर्श अगम।

तू क्षमा भी नहीं है पीछे हटी तम की।
नहीं,
तू है मेरा महान निश्चय–
प्रेम करना
और प्रेम का भागी होना धरती पर।
अभी भी साहस नहीं है कि डालूं नज़र तुझ पर
लेकिन अब
खिलता है मेरा भाग्य।
हंसता हूं,
और दृढ़ होता हूं
और स्पष्ट होता हूं।
और लौटता हूं
निज के पास।

*

हद से अधिक जीवन–
दिखावा है और दर्द।
तब ढकेला था मुझे जोश से गोली ने।
मैं पड़ गया था धरती पर दुहरा,
सुन्न, बहरा।
और!
बस,
सन इकतालीस के उस क्षण से
जी रहा हूं संयोग से बचा हुआ।
पुनरीक्षण कर रहा हूं पुराने मान-दण्डों का,
अपनी आस्थाओं,
और निरास्थाओं का।
जी रहा हूं, जी रहा हूं,
और लगता है बक रहा हूं।
चल रहा हूं, चल रहा हूं,
और लगता है–खड़ा हूं।

पहले से कम और कम,
बराबर बढ़ते अविश्वास संग,
देखता हूं खुद को सपनों में
मृत्यु के कगार पर।

मैं जानता हूं—
आपको आश्चर्य हो रहा है,
कि मैं कुछ अजीब सा हंसता और आहें भरता हूं,
मेरी आंखों के सामने बस वही क्षण है अबतक,
मैं दुनिया में किसी चीज से नहीं डरता हूं।
मैं हंसता हूं दौड़-धूप की नश्वरता पर,
आह भरता हूं अपने साथियों के लिये—
वे गूंज रहे हैं मुझ में अघोष स्तोत्र से,
मैं देखता हूं आपको,
और सोचता हूं उनके बारे में।
मैं किसी चीज से आभूषित, अभिषिक्त नहीं—
बस एक बन्दूक है, तिरपाली पेटी लगी।
पता नहीं, क्या है
आपका अमरत्व।
मेरे लिये
मेरा अपना काफ़ी है।
खड़ा रह, स्मारक पत्थर,
जैसे आग के दोतरफ़े निशाने पर।
मैं मुंह नहीं मोड़ूंगा।
वह अज्ञात रह गया है तुम जिन्दों के लिये,
पर मैंने तो देखा था इस सैनिक को।
जी रहा हूं हद से ज़्यादा,
उल्लास में,
कष्ट में,
और कर रहा हूं यशगान चिरन्तन जीवन का।
मुझे हट जाना चाहिये वहां से परे,
और मैं बार-बार जा रहा हूं वहीं,

वहीं, जहां मुझसे टक्कर ली थी
मृत्यु ने।
जहां,
जैसे तब,
सुनूंगा गोलियों की आवाज़ें,
आख़िरी बार
धरती पर दुहरा होऊंगा
और बराबर पहुंच जाऊंगा अपने सभी अज्ञातों के।

*

सोओ, लोगो

सोओ, लोगो...
आराम करो।
तुम थक गये हो।
विश्राम लो प्रेम और भाग-दौड़ से।
आकाश-गंगा सजी है तारक-झुरमुटों से।
क्लांत हो रहे हैं तुम्हारे झरोखे
सांध्य पुष्पों से।
बहुत कर चुके काम, हाथ थक गये हैं,
क्लांत हो
झपक रही हैं आंखें,
और हृदय थक कर शोक और हर्ष से
धीमी कर रहे हैं धड़कन, सोने को।
सोओ, लोगो,
निरी रात्रि है अभी,
डरो मत तुम—
दिन आंखें खोलेगा, फिर सजीव बन।
सोओ, लोगो,
यह रात है अद्भुत सुखकर,
आराम करो,

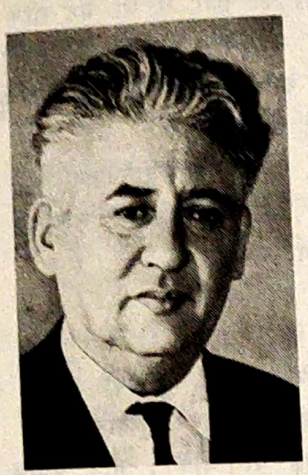
9—1664

जोड़ लाल सेब सरीखी एड़ियों को,
मैं चल रहा हूं पंजों के बल,
        और मुझे ख़ुशी है बहुत।
मुझे याद आ रही है,
कैसे रंग-बिरंगा सोता है पेरिस,
सोता है मार्सेल्ज विख्यात खाड़ी पर।
तुम भी मुझे याद हो, प्राग,–
        मधुर तुम्हारी है निद्रा।
मुझे याद आ रही है रातों की
        दिल्ली और रंगून की।
ताड़ों से सर टिका कैसे
        सोता है सजग हनोई।
और नोम-पेन्ह थककर तीर्थ-गुंजन से,
सोता है सेज पर धरती के सौन्दर्य की।
थाइलैंड में
        स्याम का नीर सुप्त सा रहता,
सोते हैं तैरते बाजार। रात बन्दरगाह में।
"मौन, मौन!"
कानों पर मर्मध्वनि मैं कहता,
"रक्षा करो लोगो, इस भव्यता की! .."
सो रहे थे हेलसिंकी में।
        खड़ा कवायद करता हूं बर्फ़ पर।
चलता हूं मृग-सा सम्हल-सम्हलकर...
चक्कर काटता याद कर रहा हूं,
कैसे पेकिंग में
        कुछ नींद-सी नहीं आ रही थी मुझे।
अब तू भी सो गई है, मास्को अंचल में।
सो जा, मेरी प्रिय।
सो जा गाल हथेली पर रख।
मैं विचलित हूं
सौन्दर्य

और दयालुता से।
क्षमा कर तू मेरी इस जटिल-सी बेचैनी को।
वोल्गा को फिर से जी भर सींच दिया है तारों ने,
निद्रा की बेला है, यहां, निरीह गांव में।
बेटी अनास्तासिया देख रही है मुझे सपनों में,
धीमे, धीमे–
        सुबह होने तक मत उठाओ उसे।
सोओ, लोगो, ओढ़कर भोर के सपने
आराम करो,
काम के लिये,
खेल के लिये,
बांधकर डोर से दूरगामी राकेटों को
जैसे बच्चों के हरे गुब्बारे हों
कि बढ़ें बाल-जीवन, और अनाज की बालें,
कि आंखें खुलें
        दिन के प्रकाश में,
        न कि अंधकार में–
सोओ, लोगो,
आराम करो।
तुम थक गये हो।
जहर मत घोलो एक दूसरे के जीवन में।

*

* मिर्ज़ा तुर्सुनज़ादा (जन्म १९११) *



मिर्ज़ा तुर्सुनज़ादा एक सुविख्यात ताजिक कवि थे। इनका जन्म क़राताग़ गांव में हुआ था, जो हुनरमंद कुम्हारों, मोचियों और बुनकरों की कलात्मक परम्परागत कारीगरी के लिए प्रसिद्ध है। कवि के पिता भी कारीगर थे। उन दिनों ताजिकिस्तान में साक्षरों की संख्या अत्यल्प होने के कारण उन्हें अदब से मिर्ज़ा के नाम से पुकारा जाता था। तुर्सुनज़ादा का पठन-पाठन ताजिकिस्तान के प्रथम सोवियत आवासीय विद्यालय में हुआ था। इसके बाद उन्होंने ताशक़न्द के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में प्रशिक्षण प्राप्त किया। बाल्यकाल में ही उन्हें काव्य में रुचि हो गई थी। "मेरे प्रथम गुरु थे रुदाकी, हाफ़िज़ और बेदिल" – उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है। पूर्वी काव्य की सदियों पुरानी परम्परा में पारंगत होकर तुर्सुनज़ादा ने इसे आधुनिक जीवन के विचारों और गीतितत्त्वों से समृद्ध किया।

उनकी मुख्य कृतियां हैं: 'भारतीय शौर्यगाथा', 'हिस्सार घाटी' और 'हसन अराबाकश'। उनका नया काव्य 'गंगा से क्रेमलिन तक' भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को समर्पित है और लेनिन विषयक काव्य रचनाओं में एक प्रमुख स्थान रखता है।

मिर्ज़ा तुर्सुनज़ादा एक सुप्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता, लेनिन पुरस्कार विजेता और समाजवादी श्रम वीर थे। अफ़्रीकी-एशियाई एकजुटता को सुदृढ़ बनाने में किये गये योगदान के लिए उन्हें जवाहरलाल नेहरू और जमाल अब्देल नासेर पुरस्कारों से सम्मानित किया गया था।

*

ताराचन्द्री

बेदिल ने अपने इस जग को
सुंदरता का दान दिया,
जादुई रंगबिरंगे रंगों से
जीवन का सम्मान किया।

कविता के वासंती उपवन का
उसने श्रृंगार किया,
कीर्तिमान नित किये समर्पित,
वैभव श्री का हार दिया।

गहन विचारों को शब्दों में
उसने ऐसा पिरो दिया,
कि सहज काव्य के छिपे भाव को
सुधिजनमन ने संजो लिया।

सागरतल की अतल गोद में
मुक्तादल से चमक रहे,
दीर्घकाल तक छिपे हुए वे
अगम नील में गमक रहे।

बेदिल सूफ़ी-संत नहीं था, कवि था
मानव परम उदार,
मुल्ला नहीं, नहीं था मुफ़्ती,
जिनके वैभव के दरबार।

अखिल विश्व में निहित एकता को
चीन्हा उसने साकार,
उसकी आत्मा में प्रतिबिम्बित
सकल वस्तुओं का था सार।

जीवन-पथ पर मिली कोमदे
और मिला मोदां का प्यार,
भावी युग को दिया उसने
प्रेमकथा का यह उपहार।

वाह कोमदे, तूने मेरे
बेदिल के दिल को जीता,
मोदां अपनी हृदय वह्नि की
ज्वालायें नित-नित पीता।

उसने गाये गीत उन्हीं के
अर्पित कर डाला जीवन,
बेदिल के दिल में उठती थी
एक हूक सी क्षण प्रति क्षण।

तूने कवि के मन को मोहा
अरी, कोमदे दीवानी,
आज हुआ मेरा दिल बन्दी
कला देख कर मस्तानी।

कालजयी नर्त्तकी श्रेष्ठ हे!
छेड़ी तूने है हृत्तंत्री।
ताराचन्द्री, ताराचन्द्री,
ताराचन्द्री, ताराचन्द्री!

अयि तू हिन्दू! अयि तू ताजिक,
दो दिल रोशन दीप जले,
बेदिल जलकर ख़ाक हो गया
ज्यों सूरज हो शाम ढले।

जब मैं पहुंचा देश तुम्हारे
देखे पतझर के दिनमान,
कुम्हलायी कुंजें रहा ढूंढ़ता
धरे कोमदे का बस ध्यान।

गोधूली वेला होते ही
गलियों में गुम हुए निशान,
रहा खोजता कहीं कोमदे के
आंगन की हो पहिचान।

नर्तन तेरा ओ जीवन,
ऐसा बना हुआ साकार,
बाक़ी सारा मरा-मरा सा
हीन क्लांत उजड़ा संसार।

देख जिसे मुग्ध हुई थीं
मैदानी चीलें चकराती
और पर्वत की बकरियां भी
मूक दिग्भ्रमित सी हो जातीं।

तेरे तूफ़ानी नृत्यों में पाया
केवल यह आभास,
दिव्यकला के सिंहासन पर
वही कोमदे रही विराज।

चम-चम करते चरण युगल पर
घूम रहा ऐसे घघरा,

मानो पांख तान मोर ने
नाच किया तन मन लहरा।

वेगभरे नृत्यों में तेरे
मैंने पाया चिर उल्लास,
गिरते पुच्छल-तारे जैसा
फैला अतिशय दिव्य प्रकाश।

यह चमक नयन की
मोदां और कोमदे वाली मतवाली,
शोलाई छाप जो दोनों ने
तारक दल में थी डाली।

तुम वैसी ही मोहक
जैसी रही कोमदे सुकुमारी,
यौवन की परिपूर्ण प्रभा सी
नयनों में नाची प्यारी।

भारतीय चन्द्र सरीखी तेरी
रूप-छटा है निखर रही,
ताराचन्द्री, ताराचन्द्री,
ताराचन्द्री, ताराचन्द्री!

क्या हाफ़िज ने नहीं लिखे थे
गीत तुम्हारे वे प्यारी,
चमत्कार भरकर शब्दों में
सतरें लिखीं मनोहारी।

शानदार मोती गूंथे थे
लिये हुए अनुपम श्रृंगार,
अतुलनीय सतरों पर सतरें
तेरे यश का विमल प्रसार।

अगणित युवकों के दिल में
था हाफ़िज़ ने पहुंचाया प्यार,
प्रणय गीत के नीड़ बुने थे
तेरी ख़ातिर दिव्य अपार।

सभी प्रेमियों को हाफ़िज़ ने
दिया प्रेम का नित प्रतिदान,
अंतरंग वे मीत रहें, नित
ऐसा रखकर मन में ध्यान।

तेरी भौंहों पर तन्वंगी
जो काला तिल उभरा,
श्याम सुगंधित लट घुंघराली,
जिसमें यौवन था निखरा।

तेरे दिव्य नयन का वादा
मेरे अंतर में संवरा,
तेरी ख़ातिर आत्मा तक की
बलि देना निश्चित ठहरा।

उसने गाया, "आ जा, ले ले,
मेरे जीवन का उपहार,
मेरी शाही शर्तें सुन ले,
मुझको तेरे दिल से प्यार।

समरकंद औ नगर बुख़ारा
इस तिल पर देता मैं वार,
और साथ ही न्योछावर है
मेरे दिल का संसार।"

भारत के नीलाभ गगन की,
अहा, तारिके सुकुमारी,

पाई गरिमा कैसे तूने,
बतला दे मुझको, प्यारी।

यह तिल तेरा पाया कैसे
मुझे बता दे बस इतना,
तिरछी भौंहों को वरदायी
मिला कहां से यह गहना।

मोहिनि, कभी नहीं बंध पाया
तेरे कोमल बालों में,
नहीं लुभाया मुझको तेरी
चंचल भौंह कमानों ने।

चाहे तेरा रूप बांधता
लोगों का दिल पाश में,
मुझे प्रेम जनता का लाया
देश तुम्हारे पास में।

मेरा देश सशक्त उत्तरी
जहां राज करती समता,
उसी देश का पुत्र लिये मैं
वासन्ती मैत्री की ममता।

वशीकरण की कला तुम्हारी,
भाग्य तुम्हारा बड़ा कठोर,
रानी होते हुए भी दासी
यह अनर्थ है कैसा घोर।

रूप चिन्ह कैसे आ पहुंचा
तेरी भौंह-कमानी मध्य!
क्या यह श्यामल चंद्र घूमता
तेरे रूप गगन में सद्य?

कितना ही बहुमूल्य ख़जाना
छिपा भौंह की ओट में,
तेरी लट नागन जैसी
पहरा देती नित कोट में।

मीत समझकर मुझको प्यारी
बतला दो दिल के ये राज,
बांटो कुछ तो दुख को अपने,
बांटो कलालोक के काज।
ताराचन्द्री, ताराचन्द्री, ताराचन्द्री, ताराचन्द्री!

जब तुम घूमर नृत्य नाचती,
इत्र उड़ाती हो दिल खोल,
मानो तेरे देश के उपवन
भरे सुगंधों से अनमोल।

लहराती हो मरूधरा सी
गतिमय मानो उदधि तरंग,
नख से शिख तक कलाकार सी
रंगी कला के रंग।

तेरी नृत्य अदा पर गमकें
किरणें मानो मुक्ता पर,
झरने से भी मंद्र बह रहा
आत्मा के अंतर का स्वर।

डरना मत विद्युत प्रपात से,
जब महान भारत जागे!
नहीं कांपना तुम पत्ते सी,
आंधी के भी आगे!

महामेघ को चीर उषा
ज्वाला आये, विश्वास करना,
मातृभूमि की आशा नाते
अपने दिल को खोल रखना!

*

और तुम्हारी है क्या मांग?

मान चुका हूं तेरा अनुशासन,
और तुम्हारी है क्या मांग?
जब मैं गाऊं, तुम्हें सुनाऊं,
और तुम्हारी है क्या मांग?
नाम तुम्हारे लिख दिया मैंने
जो कुछ था मेरे पास,
जीवन अपना और मरण अपना,
अब और तुम्हारी है क्या मांग?

ज्ञात तुम्हें, दास सदा रहते उद्यत
करने को विद्रोह,
कारा की तोड़ हथकड़ियां,
बिखेरें कड़ी-कड़ी का मोह।
जैसे संकरी घाटी से
उबल उठती है भीषण धार,
अनुगामी नव मुक्ति
महापथ से उमड़ती मैदानों पार।

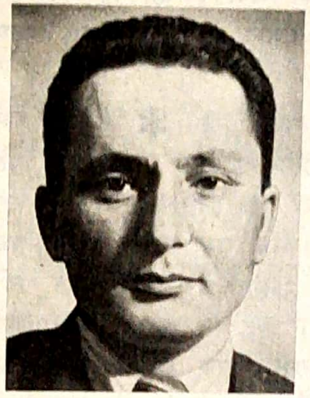
मैं हूं एक ग़ुलाम जिसे
मिलता सुख अपने भाग्य बदा,
तेरे बिना मिले आज़ादी–
रहना चाहूं दास सदा।

यदि चाहे, नगण्य हो जाऊं
अथवा करूं कीर्ति की आस,
तेरे बिना स्वास्थ्य क्यों चाहूं?
भले रोग का होऊं ग्रास।
निष्ठा तेरे प्रति जीवित मुझ में,
और तुम्हारी है क्या मांग?
मैं अविभाज्य सदा तुमसे हूं,
और तुम्हारी है क्या मांग?

हर प्रेमी का भिन्न प्रेमपथ
और प्रेम का अपना स्रोत,
उत्स है प्रेम का नाम तुम्हारा,
और तुम्हारी है क्या मांग?

*

* मीरसईद मीरशकर (जन्म १९१२) *



ताजिकिस्तान के लोक कवि मीरसईद मीरशकर का जन्म पामीर प्रदेश के सुदूर भाग में स्थित सिनदेव गांव में हुआ था। उनके पिता एक ग़रीब किसान थे। मीरशकर अपने जनतंत्र के प्रथम कोमसोमोल सदस्यों में से थे। उन्होंने ताजिकिस्तान की प्रथम समाजवादी निर्माण परियोजनाओं – वख़्श पनबिजलीघर, विशाल पामीर राजमार्ग के निर्माण और कृषि के समाजवादी पुनर्गठन में भाग लिया था। महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध शुरू होने पर वह प्रथम स्वयंसेवकों में से थे और उन्होंने बन्दूक व कलम, दोनों ही से शत्रु के ख़िलाफ़ लोहा लिया।

मीरशकर की प्रथम काव्य पुस्तक 'विजय ध्वज' १९३४ में प्रकाशित हुई थी। इसका विषय वख़्श घाटी की सिंचाई था। इसके बाद उनकी काव्य-कृतियां नियमित रूप से प्रकाशित होती रही हैं। वह दर्जनों काव्यों, अनेक कविताओं, नाटकों और बाल पुस्तकों के रचयिता हैं।

उनकी लम्बी कविताओं 'लेनिन पामीर में', 'लेनिन की निगाह', 'सुनहरा पहाड़ी गांव' और 'अपराजित पंज' के लिये उन्हें सोवियत संघ

का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। मीरणकर सृजन-कार्य के साथ-साथ सामाजिक सरगर्मियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं – वह ताजिक सोवियत समाजवादी जनतंत्र की सर्वोच्च सोवियत के अध्यक्ष, अफ़्रीकी-एशियाई एकता की सोवियत समिति के सदस्य तथा जनतंत्रीय एकता समिति के अध्यक्ष हैं।

*

लेनिन पामीर में

(एक अंश)

... पवन वेग से उड़ पहुंचे समाचार नये,
शोर और विश्वास से अपनाया गांवों ने उन्हें।
जनमानस में मची खलबली, धूल के बादल उठे,
पंख फैलाये दक्षिण तक उड़ आये।
धनी-गरीब सबके कानों में गूंजा :
ज़ार निकोलाई की सेना का रण में छक्का छूटा।
दुर्ग हुआ खाली, भागी कायर सरकार
कि पड़े न सर पर जनता की क्रोधित तलवार।
"उठो किसानो! बाग़ी हैं सारे गांव दूर के,
ताशक़ंद में मज़दूर बग़ावत कर बैठे।
ओहदेवाले दूर खड़े थे चुप्पी साधे,
रचते थे क्या-क्या षड्यंत्र न जाने :
काबुल उनकी सैनिक सत्ता का दे दे चाहे साथ,
किन्तु हुआ षड्यंत्र असफल, उभर गई सब बात।
निकल पड़े थे दीन-हीन अपने घर से बाहर,
चौराहों पर हुए इकट्ठे करते मन को
ज़ाहिर।
"हमें चाहिए, मित्र हमारे! नहीं व्यर्थ क्षण खोना,
नहीं चाहिए हमको काबुल! हमें रूस संग है होना!"

रूसी डाक्टर एक रहा करते थे ख़ारोग में,
सदा सहायक थे वे बिल्कुल अपने जैसे मीत हों।
बिना शुल्क के करते थे सबका इलाज,
ग्रामीण आते थे जब पड़ता कोई काज।
डाक्टर बोलते थे अच्छी ताजिक भाषा,
उनके शब्दों में होती थी सद्भावना और आशा।

गांवों से आते थे उनके पास लोग सहृदय से,
करते थे विश्वास, सदा वे रहते थे
निर्भय से।

"हमें गांव ने भेजा है, यह दिन है काला रात सा,
ताकि आपसे पूछें आखिर, हल पायें अपनी बात का।
कौन युद्ध में मदद करेगा, दो सलाह तुम सच्ची?
विकट समस्या में उलझे हैं, समझाओ अब जल्दी।"

डाक्टर बोले, "क्यों! यह तो तुम ख़ुद भी हो जानते,
हैं भाई तो वही तुम्हारे जो अपने नित मानते।
धनवाले तो सदा किसानों को गुलाम ही चाहते,
ताकि रहें वे दास उन्हीं के, रहें हुक्म सिर धारते।
मदद करेंगे रूसी, बुलाओ उन्हें पामीर पठार में,
पर दूर उनसे रहना, थे जो हुक्म बजाते जार के।
उनको ही तुम अपना समझो जो लेनिन के साथ हो,
अपनी मदद के लिए लेनिन को तुम आवाज दो,
सदा भरोसा रखना उनकी मदद मिलेगी तुमको,
गरीबों का हितचिन्तक नेता उनको समझो।
और सदा सच्चे जन हैं लेनिन के हर देश में,
फैलाते जो सदा रोशनी जिससे जनता देख ले..."
... दूर पठारों से घाटी तक वे आते मिलजुलकर,
वेगवान अनथमे चल रहे वे कतार में सत्वर।
लोग पहाड़ों से चल चलकर आये मिलने उनको,
लेनिन के उन वीर सिपाही लोगों से उस दिन को।
उनका था गन्तव्य फ़रग़ाना, जो अब था आजाद
चले अकेले ही कुछ भाई, चले कई मिल साथ।
सभी भांति का भय था फिर भी चले शीत में सब,
अपने दुखड़े छोड़ घरों में आगे बढ़ते थे निर्भय।
जो आये थे मदद हेतु
उनका जनता करती सत्कार
किंतु जन्मजात दुश्मन उनके बनते क्रूर और चालाक।

बंदूकों के बदले सोना देते थे अफ़ग़ानों को,
हथियारों से लैस कर रहे अपने इन इन्सानों को।
कितनी ही छलपूर्ण करते दुश्मन लड़ाई,
विश्वासघात करने में बेमिसाल उनकी चतुराई।
दासों के स्वामी शोषक वे धनी अकड़ में ऐंठे,
बिना किसी क़ानूनी हक़ के भूस्वामी बन बैठे।
पर निश्चय ही बड़ा कठिन था धोखा देना उनको
सौभाग्य का मार्ग दिख चुका है एक बार भी जिनको।
जनता जिसको ज्योति दिख रही थी नवजीवन सार सी,
मुक्त दासता से करती जो न्याय और अधिकार थी!
खड़े रहे वे दृढ़ रक्षक से अपने मार्ग संभाले
पुलों और चौराहों पर वे निशदिन थे
रखवाले।

घोर कष्ट में चलना ढालू पर्वत-राहों पर अनजान,
अक्सर नहीं मिला करता था पथ का नामनिशान।
चूर-चूर सी थीं चट्टानें बिखरी दर्रे के ऊपर
और कहीं पर मार्ग रोक कर बहता जाता निर्झर।
किसी राह की कोर धसककर खादर बीच समाई,
सदियों पहले जहां हिमानी छिपी चली थी आई।
चोटियों पर पर्वत की बर्फ़ थी कैसे चमकी,
पामीर की धरती नभ में शीश उठाये गमकी।
कहीं खोह, कहीं धुंध, पर्वत नद निर्द्वन्द,
चट्टानों का सागर करता
नयनों को निस्पंद।
अनजान रहेगी प्रकृति कि ये सिपहसलार,
जनहित को अस्त्र उठाये पहुंचे हैं अगम के पार।
ऊंचे, तेज दंतीले शिखरों पर,
रेंग-रेंगकर नुकीली चट्टानों पर।
पैदल लड़ रहे थे रूसी युवक
छोड़ पीछे फेनिल घोड़ों को।
मृत्यु का आवाहन करते,

आंखों में लिये भ्रातृत्व के सपने,
औंधे गिरते पत्थरों पर, पामीर का
आलिंगन किये।

इस तरह आया हमारे
क्रूर चट्टानी क्षेत्र में
शब्द "भ्रातृत्व" और सत्य शब्द का –
अटल विश्वास विजय में जन-जन का –
और पर्वतशिखरों में गूंजी प्रतिध्वनि
हमारे नये गीतों की:

"कैसी मंजिल तय की हमने,
कोई हमें झुका नहीं सकता!

रूस – मातृभूमि लेनिन की –
बनी हमारे राष्ट्र की माता!

तू हमारे नव-पौरुष का
मित्र प्रथम और विश्वसनीय:

बलि देकर बेटों की अपने
बीज बोती तू जीवन के अपरिमेय।

हमारी शक्ति तुम हो,
तुम्हारा हम करते यशगान,

तुम जननी जनतन्त्र की
हम तुम्हारी हैं सन्तान!"

*

प्रेरणा विहग

शीश तुम्हारा यदि हो हिलता,
और दिखाई दे धुंधला,
थक कर चूर हुए हो ऐसे,
कि विचार भी छोड़ चला
और प्रेरणा विहग कहीं
पंख फैला कर उड़ जाये,
तब भी तुमको है स्थान ढूंढ़ना,
जहां पहुंच वह छिप जाये।

वृथा ढूंढ़ना होगा साथी
उस प्रतीकसम पक्षी को
हरेभरे उस चरागाह में
जहां सुमन देते सुख नैनों को।
मथो उर्मियां सागर की तुम
जहां निनादित लहरें सद्य।
ढूंढो जीवन के सागर की
उन उत्ताल तरंगों मध्य।

*

'भारतीय बच्चों से बातचीत' कवितामाला में से

जंगल और हाथी के बारे में

बच्चे की आंखें थीं
काली, कोयले सी।
"हमारे यहां,"
कहा उसने,
"जंगल हैं,

श्रौर श्रापके यहां ?"

"वनोपवन हैं !

वन मेरे देश के
ढक सकते हैं
हरे तम्बू-से
तुम्हारा
भारत सारा।
चिलचिलाते गगन तले,
वे विचारमग्न
श्रौर संजीदे हैं
श्रौर झुण्ड के झुण्ड
वहां परिंदे हैं।"
"पर गैण्डे हैं वहां ?
श्रौर हाथी ?"
"भालू हैं वहां,
विहार करते वसन्त में
एक को उठा दिया था
मांद में मैंने।
पर हाथी श्रौर गैण्डे
नहीं देखे कभी मैंने।"
उत्तर में सुने शब्द उलाहने के मैंने :
"वह भी कोई वन है,
खाली-खाली,
जहां नहीं कोई हाथी !"

*

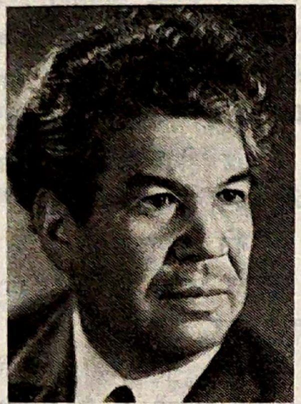
बंगाली मिठाई

बहुत देश देखे हैं मैंने
श्रौर लगा मैं शेखी बघारने :
"सबसे ऊंचे दुनिया में
बर्फ़ीले शिखर पामीर के !"

इस पर पूछने लगा मंसूर :
"कैसी होती बर्फ़, हज़ूर ?"
कैसे मैं उसको समझाता,
जहां सब साफ़ है जैसे दो श्रौर दो चार ?
छोड़ विज्ञान की जटिल भाषा
मैंने यूं ही बनायी बात :
"वह होता है उजला-उजला
जैसे बंगाल का रसगुल्ला।"
"जैसे रसगुल्ला !
बहुत महंगी होती है क्या ?
तौल कर बिकती है क्या ?"
"नहीं, नहीं कहीं यह बिकती,
बस बादलों से है गिरती –
बस इधर-उधर उड़ती रहती।"
"श्रौर बर्फ़ मीठी होती है क्या
जैसे रसगुल्ला बंगाल का ?
समझ नहीं श्राता
कैसा यह जादू-टोने का !"

*

* मुस्ताई करीम (जन्म १९१९) *



"मार्ग अपना मैं नहीं हूं नक्षत्रों से तय करता
किन्तु जन के ज्योति नयनों से सदा पहिचानता,
हर्षमय से, गंभीर से या उदासीभरे जो–
सर्वदा ही मार्गदर्शन वे दे रहे मुझको,
दोषमुक्त, ज्वलंत ताकि स्वर मुखर हो।"

कवि मुस्ताई करीम ने अपने काव्यादर्श को इन शब्दों में परिभाषित किया है।

उनका काव्य जीवन, धरती व जनता के प्रति प्रेम में जन्म पाता है। उनके काव्य का क्षेत्र व्यापक, बहुआयामी व ओजपूर्ण है। उनकी कविताओं में हम मानव विवेक, सहजता व जीवन्त यथार्थता को प्रतिबिंबित हुआ पाते हैं।

विलक्षण तथा प्रतिभावान वाश्कीर कवि मुस्ताई करीम के काव्य से सोवियत और विदेशी पाठक भली भांति परिचित हैं। उनकी पुस्तकों का संसार की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। वह रूसी जनतंत्र के

स्तानिस्लाव्स्की राजकीय पुरस्कार और बाश्कीर स्वायत्त जनतंत्र के सलावात युलायेव राज्य पुरस्कार के विजेता हैं। वह रूसी सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य हैं।

*

*

श्वेत क़ागज़ रखता सम्मुख मैं
निर्मल धवल पत्रक का
और श्याम लेखनी भी पास रखता
जो भाग्य में साथ सदा।

लेखनी तैयार करके
हाथ को मैं साधता हूं।
पर हड़बड़ी न दिखाओ हाथ मेरे
श्वेत पत्रक को काला करने में!

श्वेत क़ागज़! अग्नि या हिम –
क्या उसमें छिपा है?
वह उस शिशु के भाग्य सदृश है
जो होने को नवजात...

श्वेत क़ागज़ – श्याम लेखन,
क्या न उस पर लिखा जाता!
है कहावत – क्या जगत में
जो कागज न सह पाता?

हर्ष, शोक वृत्तान्त, अनर्थ सारे,
ज्ञान औ विज्ञान,
मृत्युदंड लिखे हैं जाते
श्वेत पर श्यामाक्षरों में!

*

मत पुकारो पर्वतो!

(रसूल हमज़ातोव को समर्पित)

नील व सुदूर पर्वतो मत पुकारो,
मत पुकारो पर्वतो, अब मत पुकारो!
घाटी में जी रहा मैं यहां सुख से,
जो न आऊं तो इसे बुरा न मानो...

सूर्य उगता यहां कुछ देर से सदा,
और थोड़ा शीघ्र ही अस्त भी होता।
गोधूली अलस सी है फैलती,
देर तक रहती, नहीं दिखाती शीघ्रता।

मुझे संतोष है और चैन भी
कार्य से अपने... भला घबराऊं मैं क्यों?
पवन भी यहां न करता कभी
साहस मेरे श्वेत केशों को छूने का।

गिरिशिखर से दूर इस घाटी में
हुआ सवार मैं उड़न घोड़े पर कल्पना के...
स्नेह शालीनता से लौट आया नीड़ में,
जिससे कभी वह हो गया था विमुख।

मत पुकारो पर्वतो नीले क्षितिज के,
मत लुभाओ उच्च अपने हिमशिखर से,
यहां घाटी में बिताता काल मैं अपना,
शांत इस वातावरण में, चैन-सुख से।

वहां पर्वत पर था मेरा पथ, वह अब नहीं,
नष्ट कर डाला उसे जल और भूस्खलन ने...
चिन्ह छोड़े हिमनदों पर जो जवानी में,
वे सभी हैं लुप्त हिम की क्रूर कारा में।

विषम जीवन पर्वतों पर भय कई होते,
पगडंडियां हैं रेंगती खड्डों व गहरी खाइयों पर।
चूक जाये यदि क़दम तो मृत्यु निश्चित,
लौट पायेगी बस यह ख़बर कि तुम न रहे।

यहां आराम है!
पर यदि सच पूछो तो मुझसे,
उकता गया हूं इसके आधे से भी!
विदा, घाटियो! चला मैं
शैल-प्रपात को, पर्वत-अंचल को!..

*

धरा मेरी, प्रियवरा चिरकाल से!
मुझे तुमसे हो कहीं यदि दूर बढ़ना,
पवन या जलधार सा हो कभी मुझे जाना,
तो मुझे, हे मातृभूमि, क्षमा करना।

तुम्हारे समक्ष अपराधी मैं पुत्र तुम्हारा,
तुम रुष्ट न होना, क्रोध न करना
कि पृथ्वी की अंटी पर मैंने चढ़ाये
धागे लम्बी राहों के...

पर हैं संयोग यहां कितने अवसर,
कितनी छोटी दुनिया इन राहों व मिलन की!
नहीं, लम्बी से लम्बी राहें भी
जुदा न कर पायीं हमें कभी।

सब इसलिए कि झरने तुम्हारे मुझको भी प्यारे,
दिल में सदा वे झरझराते।
औ गगन में जटित उल्कापात सारे
नित्य मेरी निगाहों में चमकते।

दूर जब मैं कड़क के जाड़े में होता,
बरफ़ तोड़ जलपान करता,
तब वहां झलक पाता उर तमस में
मैं तुम्हारी मुखाकृति का और मुग्ध होता।

मातृभू, यह धान्य तुमसे ही जन्म पाता,
हरित होते पात, तुम ही ज्योतिदाता,
तुम बिन सदा मैं हतभाग्य होता!
तुम शक्तिरूपा! तुम ही कष्टहर्ता!
तुम न होती, तो कहो मैं कहां जाता?

*

पंछियों को हूं उड़ाता

शान्ति का साम्राज्य है औ पूर्णता भी,
तुच्छ बातों का समय भी लद गया है।
अतः अब मैं श्रेष्ठ ज्योतिर्मय प्रभा में
वक्ष से निज पंछियों को हूं उड़ाता।

आन के रणबांकुरों के मान में यह
भेंट पहली मैं उड़ाता मुक्त नभ में,
यह तुम्हारे ही लिये है बादलों पर
उकाब सबल पंख फैलाता गगन में।

तुम्हें पथिको! थकित से और धैर्यधारी,
भोर ही में सारसों को भेजता हूं।
रुग्ण बन्धु, दीर्घजीवन कामना में
कोकिला को पास तेरे भेजता हूं।

प्रेमियो! तुमको चहकती बुलबुलें ये,
रात भर जो गुनगुनायें मधुर स्वर में।
हे वियोगी जन! तुम्हें यह श्वेत पन्डुक,
नवल आशा भर तुम्हें ये शांत कर दे।

शोक, भय से क्लांत साथियो, यायावरो!
हैं सभी को भेंट उड़ते विहंगम ये।
उदासीनों के लिये मेरे पास कोई
है नहीं पंछी, जो चाहे करें वे।

शान्ति का साम्राज्य है औ पूर्णता भी,
तुच्छ बातों का समय भी लद गया है।
अतः हर दिन श्रेष्ठ ज्योतिर्मय प्रभा में
वक्ष से इन पंछियों को हूं उड़ाता।

*

तीन रूप तेरे

बश्कीरिया! हुआ मैं पुनः दूर तुझसे,
तारकों से दूर, पर कब विलग उनसे?
कहीं भी मैं रहूं—नाम तेरा नित्य जिह्वा पर रहा है,
सदा निकला यही मुख से, यही मन में बसा है।

शीत की घोर काली रात में भी,
धरा, तू स्वप्न में भी मत विलग कर छाया,
मन में बसी नित त्रिमूर्ति तेरी—
जननी तू, सहधर्मिणी तू और तू जाया।

तुम माता! पर कौन जाने आयु माता की?
वर्ष सहस्रों अथवा नक्षत्र-तारक जितने।
वोल्गा-तबोल के उस क्षेत्र में रहती,
कौन गिन पाया तेरे पुत्र कितने ...

उफनता था रक्त मेरा, राग और अनुराग मेरा
मम पूर्वजों के प्यार और विश्वास में,

हां, निरंतर ही रहा है अस्तित्व मेरा,
सहस्राब्दों से कहीं, वह अधिक गणना में।

चमकती है अग्निज्वाला नेत्र में मेरे,
जो जला करती थी वेला में सुबह की...
शीघ्रगामी अश्व जैसे स्तेपी के हों
भाव दौड़ें लांघ बाधा युग-युगों की।

पूछता हूं जननी से: "जानना चाहता हूं मैं
क्या कभी आनन्द पाया तुमने उन दिनों में?"
"सभी देखा... सभी कुछ... तमस भी और ज्योति भी,
अश्रु औ आशा मिले थे; अग्नि और जल भी...

"तुम्हारे प्रश्न के पहले ही उत्तर
हो चुका अंकित हमारी श्याम धरती पर—
दुख पर उगा करती है केवल तिक्त घास,
लेकिन जहां सुख, वहां होती है उसमें मिठास।

"सभी देखा... सभी भुगता है यहां पर...
शस्त्र धारे... भाग्य से अभ्यर्थना भी की,
चूर्ण थे पर्वत हुए... औ जलधि में जल न रहा,
किन्तु मेरी जाति जीवित विचरती आज भी!"

माता मेरी... तू सहस्रों वर्ष की अपनी...
और अब मैं प्रश्न तुझसे कर रहा,
समवयस्का पत्नि से था यह पूछता,
"सुखी हो क्या? भाग्य ने क्या दिन दिखाये तुझे?
किस तरह ये पांचों दशक तेरे कटे?.."

"मैं सुखी क्या? मैं सदा ही व्यस्त थी,
कौन जाने सुख औ दुख कितना सहा,

मेघ भी घिर-घिरके आये औ अचानक बिखर गये,
हिम भी गिरा और गल-गलके फिर बह गया।

"सूर्य चढ़ता, मैं किरण का पान करती,
प्यास कितनी थी मुझे उस ज्योति की!..
हृदय में संवेग भावों के उमड़ते,
सूर्य, तारों और नभ तक पहुंचते।

"बादलों में मैं उड़ी विहग सम,
प्रेम, आशा और जीवन-चाह ले।
कभी यह भय भी मन में उपजता:
कुदृष्टि जीवन पर किसी की न उठे।"

"...अब लो बताओ, लाड़ली, तुम भी कुछ:
सुख को संभाले रहती हो क्या सर्वदा?"
"सुख किसे कहते हैं, मैं यह न जानती
जब दुख न जाना, न कभी भुगतना हुआ?

"दो मुझे उपहार में अपनी उमंग,
और यह कि धैर्यशाली बन सकूं तुम सरीखी।
कहा तुमने नित्य ही यह: 'सुख है आगे!'
मुझमें धीरज नहीं अब, मैं–सुख की अभिलाषी।"

बश्कीरिया! हुआ मैं पुनः दूर तुझसे
तारकों से दूर पर कब विलग उनसे?
कहीं भी न रहूं–नाम तेरा नित्य जिह्वा पर रहा है,
सदा निकला यही मुख से, यही मन में बसा है।

शीत की घोर काली रात में भी,
धरा, तू स्वप्न में भी मत विलग कर छाया,
मन में बसी नित त्रिमूर्ति तेरी–
जननी तू, सहधर्मिणी तू और तू जाया।

*

* येवगेनी दोल्मातोव्स्की (जन्म १६१५) *



लोकप्रिय कवि और गीतकार येवगेनी दोल्मातोव्स्की का जन्म मास्को के एक वकील परिवार में हुआ था। उन्होंने मास्को की भूमिगत रेल के निर्माण में भाग लिया और गोर्की साहित्य संस्थान में अध्ययन किया। उनका प्रथम काव्य-संग्रह "गीति काव्य" १६३४ में प्रकाशित हुआ, जिसमें सोवियत युवाजन के यौवन, प्रेम और श्रम से संबंधित कविताएं सम्मिलित थीं।

१६४१-१६४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में दोल्मातोव्स्की मोर्चे पर थे और उन्होंने स्तालिनग्राद से बर्लिन तक के युद्ध पथ का लम्बा फ़ासला तय किया। उनकी युद्ध संबंधी कविताएं 'द्नीपर का गीत' और 'विजय में आस्था', इन दो काव्य-संग्रहों के रूप में प्रकाशित हुई हैं।

दोल्मातोव्स्की ने वोल्गा-दोन नहर के निर्माण, परती भूमि के विकास और अपनी एशिया व अफ़्रीका यात्राओं के अनुभवों के विषय में कविताएं लिखी हैं। संघर्षरत वियतनाम को समर्पित उनकी कविताएं और काव्य-उपन्यास 'स्वयंसेवक', जो अक्तूबर क्रान्ति के समवयस्कों को समर्पित है, अत्यन्त रोचक हैं।

*

नाराज न हों, शाहबलूत के कुंजो,
उक्राइन और साइबेरिया और कोहकाफ़!
नहीं कीर्ति की भूख थी मुझको,
जो तुमसे दूर हुआ मैं आज।

स्मरण मुझे, आरम्भ हुई कब यह घटना,
लगभग सन् चालीस रहा तब होगा
फ़ौजी थैले के संग ले याद तुम्हारी,
करेलिया पार का जाड़ा भोगा।

सीखा तुझे सदा संग रखना,
मातृभूमि! तुम बिन जीवन यह सूना।
रण-रण तुझे संजोकर लाया,
मेरा आगे बढ़ना – ग्लोब का रंग बदलना।

आज शान्तिबेला में जीवन-पृष्ठ पलटता –
स्टेशन, बंदरगाह और हवाई अड्डे।
दूर जा रहा है साथी मेरा,
नहीं कहा था मैंने क्या यह पहले?

शोभा मेरी धरती की अभिराम,
और कविता के लिए अनिद्रा की रात।
नील-बांध पर करती वह काम,
या लेती मलेरियाई तोगो में डाक्टर का स्थान।

हर जलवायु, हर प्रदेश में वह साथ,
आत्म-बोझ से कभी न डरती।

गुंजित सब अक्षांशों पर है रूसी भाषा,
मातृभूमि का प्रतिनिधित्व है वह करती।

*

स्वतंत्रता

दृश्य विहंगम राकेट की ऊंचाई से,
अपने ही ग्रह को यदि देखें हम ध्यान से।
अफ़्रीका की धरा लिपटी रक्तिम आभा से,
हृदय का रूप लिये, सजी-धजी वह शान से।

यह रंग है बाक्साइट और लोहे का,
या, सच कहिये अगर, यह रंग है बहते रक्त का।
नग्न किया इसको आगन्तुक लोगों ने,
और बांट डाला टुकड़ों-टुकड़ों में।

बड़े भोले, निष्छल थे ये अफ़्रीकी जन,
सहज विश्वासी और दयालु रहे हर क्षण।
इसीलिए सदा वे अभिशप्त बने,
दीर्घकाल से दैन्य-दुखों में पड़े रहे।

दहकते ट्रांसवाल के जो गीत विश्रुत
हम गाते थे होकर विमुग्ध,
उनमें भर आया है अब नया अर्थ,
खिंच गयी प्रत्यंचाएं, जन हुआ जागृत।

मुक्त गा उठो, स्वतंत्रता हेतु सर संधानो!
बन्दूकें लेकर उठ जाओ विद्रोही वीरो!
बिना कष्ट आज़ादी कैसे संभव हो,
राष्ट्रो, अपने न्यायमार्ग पर बढ़ते जाओ।

सुन सकता हूं घंटों की टंकारों सा
कंठनाद वह कांगो की आजादी का।
इस शताब्दी में लगता है कैसा हास्यास्पद
संरक्षण हो केमरून की धरती का।

जंजीबार लूट पायें वे नहीं कभी,
मडागास्कर न हो ग्रास डकैती का।
भ्रमण हेतु ही आइवरी का तट होगा,
गांठ बांध ले यूरोपी जन इसे सदा।

कितने वीर साहसी थे वे युवक,
जिन्हें सेनेगल में देखा था मुग्धनयन।
ऐसे लोग असीम शक्ति के होते द्योतक—
दुष्टवृत्ति से न्याय सदा ही प्रबल, अनम।

तरुण गिनी में मैंने बिगुल सुना,
यौवन और उत्साह का ज्यों जाम छलका।
आक्रामक कहते थे: अफ़्रीका 'काला',
पर, मित्रो, हम जानते हैं, है वह ज्वाला।

*

कांस्य घंटे

खंभों पर खड़े झोंपड़े ...
धुएं की मादक सुगन्ध ...
अतिथियों का परम्परागत स्वागत,
मियोंग वासियों के वे कांस्य घंटे
गूंज रहे हैं हर क्षण।

रहस्यनेत्रा, श्यामवर्णा सात सुंदरियां—
सहकारी फ़ार्म की प्रथम कार्यकर्त्रियां—

कांस्य घंटे हाथों में थामे
नियमित करतीं स्वर संगीत के।

घंटों पर जमी है शायद सदियों से
कालिख, जैसे ग्रहण की छाया।
वक्र पेंदे पर गिर-गिर कर
झंकार करते मूसल मृदु से।

तैरती है सुदूर संगीतमयी धुन,
आत्मा को वशीभूत करती क्षण-क्षण,
आता है मुझे याद अपना बचपन,
मास्को गिरजों के घंटों की टन-टन।

पर वे दूर हैं, जैसे मेरा बचपन,
मैं युद्ध प्रांगण में हूं—चौथी बार!

कोमल, रहस्यमय और नियमनिष्ठ पूर्व यह
और नींद फैलाता निनाद घंटो का!
पुराना अरबात* फिर याद आता है,
भाई जहां रहता है मेरा और वे लड़कियां
जो बन चुकी हैं अब दादियां।

गलियों से आता है शोर
—बमवर्षक! उड़े आ रहे हैं!!—
और नगाड़ों की गूंज में से
उभरता है बुखेनवाल्ड का आर्त्त आह्वान,
मानों फट रहे हों कांस्य घंटे।

*

---

*पुराना अरबात—मास्को का एक पुराना मुहल्ला।

वियतनाम, वियतनाम

ट्रांसवाल – यह गीत अतीत का
उभरता है मेरे सामने नये शब्दों में :
वियतनाम, वियतनाम, तू देश मेरे मित्रों का
तू जल रहा है सारा अग्नि में।
तेरा दुख – मेरा दुख है,
हमारा शिविर चिन्तामग्न है।
तू कभी भी, किसी कीमत पर भी
बलि नहीं देगा अपनी स्वतन्त्रता की।

मैं दूर था,
मैं शान्त उपवन में था,
जब तुमने स्वीकार किया शत्रु की ललकार को।
वियतनाम, वियतनाम, तू धरती की टीस है,
मेरे जिन्दे घावों की टीस।
मेरे प्यार का प्रमाण
है दुनिया के सामने।
तू आह्वान कर – प्राण देने में
मैं रहूंगा सबसे आगे।

दुश्मन बम बरसाते बेरहमी से,
पर उनकी जग-हंसाई ही होगी।
पौरुष की कमी नहीं तुझ में,
तू अजेय, तेरी जनता विजयी होगी।
धरती है तेरे ही पक्ष में;
वह हमारे ही पक्ष में है।
वियतनाम, वियतनाम, तू देश मेरे मित्रों का,
तू जल रहा है सारा अग्नि में।

*

मैं – धरा...

उत्साह हृदय में और संत्रास भी,
हम प्रविष्ट हो चले दीप्त युगों में :
असम्भव आज हो गया सम्भव,
प्रकट हुए हैं जगत नये।
इनका अन्त हम नहीं पा सकते थे,
यदि दिलों में ये स्वर न गूंजते :

मैं – धरा!
मैं विदा कर रही आत्मजों को,
पुत्रों को,
पुत्रियों को।
सूर्यलोक तक जाओ तुम उड़कर
लौटकर आओ घर तुम जल्द पर।

हम जा रहे हैं छोड़ सगी धरा
कि सितारों और ग्रह-नक्षत्रों तक
फैलायें सत्य हम धरती का
और भाव गहन आदर और स्नेह का,
कि गूंजते रहें सर्वत्र विजयनाद से
पुकार चिरप्रतीक्षित, स्वर विशुद्ध प्यार के :

मैं – धरा!
मैं विदा कर रही आत्मजों को,
पुत्रों को,
पुत्रियों को।
सूर्यलोक तक जाओ तुम उड़कर
लौटकर आओ घर तुम जल्द पर।

भावी लक्ष्य हमारे भव्य हैं।
और तारकपथ पर संग हमारे
जिन्होंने प्राणों की दी आहुति है
ताकि भर जाये धरती फूलों से।
गूंजे विजयनाद-सा उनके और हमारे लिये
यह पुकार मां धरती की, आदेश हमारी पृथ्वी का:

मैं – धरा!
मैं विदा कर रही आत्मजों को,
पुत्रों को,
पुत्रियों को।
सूर्यलोक तक जाओ तुम उड़कर
लौटकर आओ घर तुम जल्द पर।

*

* रसूल रज़ा (जन्म १९१०) *



सोवियत आज़रबैजान के लोक कवि रसूल रज़ा का जन्म बाकू प्रदेश के गियोकचाई क़स्बे में हुआ था। १९३१ में उनकी प्रथम काव्य पुस्तक बाकू से प्रकाशित हुई।

आज़रबैजान में सोवियत सत्ता द्वारा किये गये नवनिर्माण तथा विश्व के सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का प्रतिबिंबन रज़ा की आरंभिक रचनाओं की विशिष्टता है।

महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के दौरान रसूल रज़ा ने कई लेखों एवं कविताओं की रचना की थी, जो सैनिक समाचारपत्रों और जनतंत्र की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए और बाद में उनकी 'आक्रोश एवं प्रेम' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत हुए।

रसूल रज़ा के लेखन की विषयवस्तु बहुत ही व्यापक है। खण्ड-काव्य 'लेनिन' के लिए उन्हें सोवियत संघ का राज्य पुरस्कार मिल चुका है। यह रचना आज़रबैजानी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर और बहुभाषी सोवियत साहित्य की एक प्रमुख उपलब्धि मानी गयी है।

रसूल रज़ा की कविताएं संसार की कई भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

मुझ में वसन्त

खुली खिड़की में खड़ा मैं
और कमरे में भरी है धूप।
शीत जा चुका है
जैसे अतिथि वाचाल-रूप,
कर आतिथेय को लाचार
छेद-छेद उसकी हड्डियों को
निश्वास से अपने अनुदार।
वसन्त जो आ रहा है
खुली खिड़की में
लगता है
प्रथम स्वरों सा
अभी अरचित गीतों का,
जो यथार्थ नहीं हैं
और यथार्थ भी हैं,
स्वप्न हैं,
पर यथार्थ की
सजावट हैं।
वे अधखिले से फूल हैं
जो हवा में कांपते हैं
और लचक जाते हैं, कमज़ोर-से,
लेकिन जो शीत को विदा करते हैं।
उनके लिये काफ़ी हैं
ये शकुन, अस्पष्ट-से,
कि ख़ुश हो सकें
अभी अदृश्य-से
वसन्त से।

गिरा करें आकाश से बर्फ़ के फाहे
पर मैं ख़ुश हूं
कि मुझ में वसन्त है!

*

उजला हाथी

मुझे मिला वह
रंगून के चिड़ियाघर में,
धारीदार लौह पिंजड़े में,
अकेला, उदास,
उजला हाथी
धारीदार लौह पिंजड़े में।
पांव काले, काली आंखें,
और ख़ुद उजला,
दुखी-दुखी।
देखता है
जैसे कुछ कहना चाहता हो,
अभी-अभी
बोल उठेगा मानो!
हाथियों में
मुश्किल से मिलता है सफ़ेद हाथी,
हाथियों में
मुश्किल से मिलता है क़ैदी।
क़ैद में जीना मुश्किल है—
और पूरे साल बीत गये
उसे बिछड़े जंगल से।
सूंड उठाता है
और चिल्लाता है,
आज़ाद भाइयों को अपने
बुलाता है,

उजला हाथी!
कहते हैं कि हाथी
सौ साल जीता है।

बेहतर था कि तेरी उम्र
कम होती।

उजले हाथी!
किसलिये तुझे
लम्बी उम्र,
यदि तू
सौ साल
बितायेगा जेल में,
उजले हाथी!
उजले हाथी!

*

धरती की वेदना

और इस रात भी नहीं सोया,
हालांकि स्वस्थ हूं,
विस्तर मुलायम है
और फ़र्श से छत तक
नीरवता है।
एक दिन
ऐसी ही नीरवता में
चला जायेगा बिना विदा लिये मेरा हृदय-मीत...
नहीं, मुझे ग़म नहीं इसका
और न ही इसका
कि जायेगी यह रात बीत
और बीत जायेगा दिन यह,
वे छूट जायेंगे पीछे—

मुझे सोने नहीं देते
दुनिया के दुख,
और धरती की वेदना।

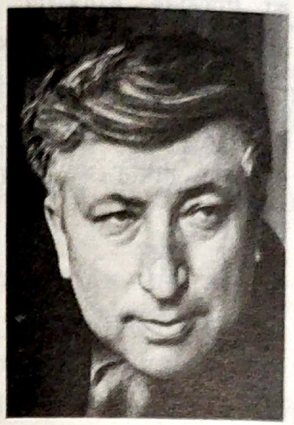
*

सागर, लहरें और बूंदें

लदे ऊंट सी लहरें लगतीं,
श्वेत संगमर्मर लिये पीठ पर,
खड़ी हरी, नीली, पागल सी
फेन लिये होंठों पर।
थोबड़े उठाये लहरें चलतीं
उत्तुंग सीना ताने ऊंट जैसी,
मानों मानिनी ऐंठती गर्व से रूप पर।
कारवां चला है सफ़र दूर पर।
संभव है, आप दें सुंदर उपमा
पर मुझे अबतक मिली न दूसरी—
महती लहर शाह सी उन्नत उठती,
लघु वजीर सी पीछे चलतीं।
छोटी चलती हैं नत मस्तक
पीछे-पीछे, बड़ों के पथ पर
सागर, महान सागर मेरे,
नीले, हरित रंग भरे।
मिलते नद, नाले और झरने,
बूंद-बूंद से सिन्धु बने।
सागर जग है, बूंद मनुज है,
बूंद विलग हो यदि सागर से,
तो तुरंत उड़ मिलती नभ में,
घनीभूत होती कुहरे में,
गिरें धरा पर ओस बिंदु से।

दुनिया में पग-पग पर धोखे हैं
अनगिनत आफ़त और ख़तरे हैं,
धूप ध्वस्त कर देती कुहरे।
शीत बदलता पानी को पत्थर में।
कहीं-कहीं बालू भहराते,
नन्हीं बूंद को हड़प कर जाते।
बूंदें सागर में – एकता महाबली,
गर न चाहें वे दूर जाना कहीं।
बूंद अकेली व्यर्थ है,
तुरंत होता उसका क्षय है।
सागर में बूंदें – प्रेम सूत्र में पिरोई लहरें,
कितनी हो तुम, कितनी शक्ति तुममें!
लहरें नष्ट हो जाती हैं चूर-चूर होकर...
सिर्फ़ सागर में बूंदें हैं ताकतवर...
सागर में बूंदें मिलकर एक बनीं,
जब जी चाहा किनारे तोड़ चलीं।
सागर, सागर – तू चिर आकुलता!
जल – तेरी अतुल शक्ति!
तू है अक्षय एकता!
मैत्री और निष्ठा तू
सदा, सदा।

* रसूल हमज़ातोव (जन्म १६२३) *



दाग़िस्तान के जन कवि रसूल हमज़ातोव का जन्म एक पर्वतीय गांव त्सादा में हुआ था। उनके पिता, अवार सोवियत साहित्य के जन्मदाता हमज़ात त्सादासा ने अपने पुत्र में काव्य और लोक-साहित्य के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न की थी। १४ वर्ष की आयु में ही बालक रसूल की कविताएं स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं। १६५० में उन्होंने मास्को के गोर्की साहित्य संस्थान में अपनी शिक्षा पूर्ण की। १६५२ में हमज़ातोव को उनकी काव्य पुस्तक 'मेरा जन्म वर्ष' के लिए राज्य पुरस्कार प्राप्त हुआ और १६६३ में 'उच्च नक्षत्र' काव्य-संग्रह के लिए लेनिन पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

रसूल हमज़ातोव का काव्य वास्तविक राष्ट्रीयता और महान नागरिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। उनकी अत्यधिक लोकप्रियता का कारण उनके काव्य में सहज प्रतिभा, सरल लोक कथाओं और गीतों का, जिससे उनके काव्य गुणों का विकास हुआ है, आधुनिक सांस्कृतिक ज्ञान से अनोखा समन्वय है। हमज़ातोव का काव्य सूक्तिमय व सारगर्भित बिम्बों, उपमाओं से परिपूर्ण है। उनकी एकमात्र गद्य पुस्तक 'मेरा दाग़िस्तान,' जो कोई

कम लोकप्रिय नहीं है, विनोद और जन बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण एक विशिष्ट कथा है।

रसूल हमज़ातोव का सार्वजनिक कार्यकलाप निहायत विविध है। वह सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत के अध्यक्षमंडल के सदस्य तथा सोवियत संघ के लेखक संघ के प्रबंधक-मंडल के सदस्य हैं। वह अरब-सोवियत मैत्री समाज के संस्थापकों में से हैं और अफ़्रीकी-एशियाई लेखकों के ताशकंद सम्मेलन (१६५६) की आयोजन समिति के सदस्य रहे हैं।

*

तीन आग्नेय इच्छाएं

मेरे अंतर में बरबस वे कैसी सुलग रही हैं,
अग्नि सी तीन कामनाएं मुझमें बसी हुई हैं...
बाहुपाश में एक और रमणी को पाने की,
फिर जो होगा सो होगा, तब ही देखा जायेगा!

अरे जोश में एक जाम भर और उंडेला जायेगा,
ईश्वर इस के लिए प्रताड़ित मुझे कर नहीं पायेगा!
गीत प्रेम का अभी एक और रच लूं, लिख लूं, गा लूं
फिर जो होगा सो होगा, तब ही देखा जायेगा!

बांधा मैंने बाहुपाश में इक अल्हड़ युवती को,
लौ आशा की लेकिन तब भी बुझी-बुझी सी बनी रही,
मदिरा थी जो चखकर देखी, सिरके सी वह तिक्त लगी,
पहले जैसी चमक-दमक भी मेरे गीतों की शून्य हुई।

पर्वत-पर्वत, छोर-छोर पर एक यही अफ़वाह
फैलायी है न जाने किसने, इज़्ज़त हुई तबाह।
लोग कह रहे मेरा मन तो अब है बुझा-बुझा,
लंगड़ा गया है घोड़ा मेरा, रंग है उड़ा-उड़ा।

पर जग को स्मरण रहे, मैं यों ही नहीं मिटूंगा,
अपना शोक मनाने की यों नौबत न आने दूंगा
जब तक आलिंगन न कर लूं एक और रमणी का
फिर जो होगा सो होगा, तब ही देखा जायेगा!

जब तक एक जाम और न मैं ख़ाली कर लूं
और शब्दों को गीत-स्वरों में भरकर न गा लूं;

जब तक अपनी धनु-प्रत्यंचा को तान सन्नद्ध न हो लूं
और तीर प्रखर से स्वर्णमीन का लक्ष्य सिद्ध न कर लूं।

दीप्त करूंगा तारक जगमग कविता के सरताज में,
ऐसे कि जो समय उन्हें कभी बुझा न पायेगा।
आप कह उठेंगे,
"वाह, वाह!"
आश्चर्य से,
फिर जो होगा सो होगा, तब ही देखा जायेगा।

*

अष्टपदियां

सदी बीसवीं देखो कैसी क्रुद्ध पीसती दांत,
उसने हमें जना, मगर हम हीन, पतित औ क्लांत:
पहले नहीं कभी आया था ऐसा युग या काल,
कितना मानव-रक्त बहा है, कितना मिथ्याजाल!

थकी हुई नज़रों से देखो सदी बीसवीं झांके,
मुग्ध हो रही अपने बच्चों पर और गुणों को आंके:
दुष्टनीति और प्रपंच विरोधी मानवता के काज
कभी नहीं छिड़ा रण ऐसा जैसा देखा आज।

*

विश्व हमारा है जहाज़ सा, लहरें करती उस पर वार,
वह निर्बल औ क्षीण बहुत है, डगमग डोल रहा मंझधार,
नीचे तलघर में महिलाओं और बच्चों की भरमार,
कम ही ऐसे होंगे कि जो तैर सकें उस पार!

यदि स्वार्थ सिद्धि में अपने यात्री सारे व्यस्त रहें,
और जहाजी झगड़ पड़ें, मारकाट में लिप्त रहें—
क्या होगा उनके जीवन का, अरे आप ही बतलाएं,
जो दुर्बल और क्षीण बहुत हैं, तैर नहीं बिल्कुल पायें?

*

देखो, ताज महल को देखो, ऊंचे मीनारों के शीश,
सदियों पहले चांदनी में उठती दर्दीली टीस।
कभी अकबरी सत्ता की बंदिनियां थीं सहती दुख की आग,
तड़पी थीं घर की स्मृतियों में, जिनके लूटे गये सुहाग।

वही गीत जीवित हैं अब तक, शेष दर्द की आग अभी
अरे काल क्या मिटा सकेगा ऐसे दुख के राग कभी!
कितनी स्थायी, कितनी लम्बी हैं ये राहें दर्दभरी,
कितनी क्षणभंगुर, अस्थायी वे राहें थीं जश्नभरी!

*

वंदना

नील पर्वत पर जब चढ़ जाओगे
और नभ को करतलगत पाओगे,
सुनोगे जब नदी के प्रवाह-स्वर में
राग वही, जो सत्वर है सदियों से;
देखोगे जब विहग का गगन में चक्कर खाना
और पहाड़ी ढालों पर भेड़ों का चढ़ना-चरना,
जाग उठेगी इच्छा मन में धरती के वंदन की,
चाहे इसके पूर्व कभी न किया हो पूजा औ अर्चन भी।

जब क्षितिज पर जलधि के देखोगे
ज्वालमंडल सूरज का पीला पड़ता।

जैसे धुप जड़ा हो मोटी बाती से
और अंत आया हो दिन के प्रकाश का।
फिर ज्यों ही देखोगे सागर में सूर्य का निमज्जित होना
और आधा लहरों के अंचल में जा छिपना।
तुम झुक जाओगे बरबस करने को मनवंदना
यद्यपि की नहीं थी तुमने पहले पूजा-अर्चना।

वृद्ध अंगुलियों के पोरे दाढ़ी सहलायें-सुलझायें,
अपने शिशुओं को माताएं स्नेहसिक्त हो दुलरायें।
मां के स्तन का पान बाल निर्भय हो करते—
मन में हजारों विस्मय भाव पुनः-पुनः आ उमड़ते।
धरती और गगन जब तुमको प्रेरित करते,
जीवन के अवगाहन की दृढ़ इच्छा जनते।
तब पैर थमेंगे, फूटेगी कंठ से वंदना
यद्यपि तुमने सुना नहीं, कैसे करते हैं अर्चना।

*

सारस

मुझे लगता है कभी कि सैनिक वे
जो लौटे नहीं रक्तरंजित खेतों से,
दफ़न नहीं हुए भ्रातृ-कब्रों में,
बल्कि परिणत हो गये सफ़ेद सारसों में।

वे आज भी उस सुदूर अतीत से
उड़ते और हमें पुकारते हैं।
शायद तभी तो हम अक्सर टीस से
आकाश देख चुप हो जाते हैं।

मैं देखता हूं : पराई धरती पर
शाम के धुंधलके में... सारस
उड़ रहे हैं कतार सी बांधे
जैसे चले थे उन खेतों में कभी मानव का रूप धरे।

उड़ रहे हैं वे, तय करते अपनी लम्बी राह
और रह-रह चीखते हैं, लेते किसी का नाम,
कहीं इसीलिये तो नहीं सारसों का कलरव गान
अवारों की भाषा के सदियों से है समान?

उड़ रहा है सुदूर गगन में एक क्लांत सा शर—
अतीत के मेरे मित्र, मेरे परिजन-सहचर।
और उनकी पंक्ति में है इक छोटी सी रिक्ति—
हो सकता है, इसी जगह हो उड़ना मेरी नियति!

समय आयेगा, और मैं भी इन सारसों के साथ
उड़ चलूंगा इसी अथाह नील के पार,
और पुकारूंगा गगन से चिड़ियों की बोली में
तुम्हें, जिन्हें छोड़ आया हूं धरती पर।

*

* सील्वा कापुतिक्यान (जन्म १९१७) *



प्रख्यात आर्मीनियाई कवयित्री सील्वा कापुतिक्यान का जन्म व पालन-पोषण येरेवान में हुआ था। १९४१ में उन्होंने येरेवान राज्य विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र विभाग में अपनी उच्च शिक्षा पूरी की। काव्यसृजन उन्होंने अल्पायु में ही आरम्भ कर दिया था। उनकी पहली काव्यकृति १९४५ में प्रकाशित हुई थी। तब से उनकी कविताओं के संग्रह आर्मीनियाई, रूसी तथा सोवियत संघ की अन्य राष्ट्रीय भाषाओं में लगभग प्रतिवर्ष ही प्रकाशित होते रहे हैं। 'मेरे परिजन', 'यह है मेरा देश', 'बीच रास्ते में सोच-विचार', 'कीयेव के पांगर वृक्षों की छाया में', 'मेरा पृष्ठ', आदि काव्य रचनाओं और संग्रहों ने उन्हें अग्रणी सोवियत कवयित्रियों की पांत में खड़ा कर दिया है।

सील्वा कापुतिक्यान का सृजन चिन्तन और भावप्रवणता दोनों ही दृष्टियों से गहन है। वह आर्मीनिया के कारुणिक अतीत, व्यक्तिगत हर्ष और विषाद, समसामयिक विषयों तथा महान सोवियत मातृभूमि की जनताओं की मैत्री के विषय में लिखती हैं।

काव्य-संग्रह 'मेरे परिजन' के लिए सील्वा कापुतिक्यान को राज्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।

सील्वा कापुतिक्यान ने अन्य साहित्यिक विधाओं में भी अपनी लेखनी आज़मायी है। 'कारवां चल रहे हैं' यात्रावृत्त में उन्होंने विदेशों में रहनेवाले आर्मीनियाई लोगों के बारे में लिखा है, जिससे उनकी पत्रकारिता की विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलता है।

*

सेवानी पर्वतमाला में

नहा रही मैं आज
अकेली ज्योतिर्धारा में,
खड़ी हुई निस्तब्ध सेवानी पर्वतमाला में,
उच्च, अरे, अति उच्च खड़ी विस्मित
मानिनि सी बाला मैं!

उकाब पहाड़ी छूते मेरा पृष्ठ पंखों के प्रस्तार से
और पांव भी घिरते जाते बादल के अभिसार से।
कितनी महत धरा लगती गौरव अधिकार से!

सहसा गयी भूल वह विस्तार चिरस्थायी,
दृष्टि नत किये लगी ढूंढ़ने और देखने राह सही,
चट्टानों के विजन लोक में जनजीवन के वास कहीं!
क्योंकि मन में घुमड़ पड़ी थी सहमानव की याद घनी! . .

*

पथ का गीत

कितना अच्छा, छोड़ चलें हम कहीं कभी
घर को और नगर को, जहां जन्म पाया।
और चलें उन राहों पर अब तक हैं जो अनजानी,
निपट अकेले, निज धरती पर, जैसे जी में आया।
दूर देश की राहों का है अंत नहीं,
वहां मनोरम दृश्यों की आभाएं बरसें,
कितनी ही बेचैन हवाएं नित चलतीं,
नयी स्फूर्ति भरती आत्मा में और निरंतर सरसें।

धरती का सौंदर्य अकथ, वह ऐसा चमके,
विह्वल हो जाये हृदय हर्ष, गर्व और सुख से।
अगणित नगर तारक सम सम्मुख गुज़रें,
विस्मित करें तुम्हें अपने वैविध्य और आकर्षण से।
हो सकता है तुम एकाकी, संगहीन हो,
लोग मिलें, उनमें भी कोई परिचित न हो;
पर निश्चित है सर्वत्र तुम्हें अपना समझेंगे,
सत्कार करेंगे अपने ही बिछड़े जन जैसे।

कई बार यदि लोग न मुझको पहचानें—
कहां जाती मैं और चली आयी हूं कहां से—
है स्वागत अनजान बटोही-पथिकों का
आतिथ्य-भाव से पूर्ण उदार नगरों में।
कितना अच्छा है चलना इस सुदूर धरती पर,
नयी राहों पर, नयी गली और सड़कों पर,
और झांकते जो चेहरे खुली खिड़कियों से
उनमें मिलना अपनत्व और सगापन हृदय से।

फिर उनसे घिरकर औ सबसे घुलमिल कर
गहन स्नेह के आत्मीय सूत्र में बंध जाते।
और हर कहीं तुमको ये बंधन सुखकर,
सभी कुटुम्बी स्वजनों से हैं लग पाते।
तुम उनमें से एक, अरे, संदेह है कैसा!
स्नेह बढ़े तब और अधिक जब तुम उनसे
अटक-अटक कर भी यदि बोलो उनकी भाषा,
रूसी तुमसे सुनकर मन हर्षित उनके।
कितना अच्छा, मन को कितना प्रिय लगता,
मातृभूमि का परिभ्रमण कर लौटें।
अंतर में यह भाव नवल स्फूर्ति भरता
कि वापस फिर पर्वत के अंचल में बस जायें।

पुनः पुराने मितों के घर आ मिलन करें,
प्यास बुझायें अपने उपवन के मधुरस से।
और अविरत अपने घर, अपने अंचल में
अमरत रहें, हर्ष मनायें, शतजीवी बनें!

*

जीवनयापन किया सहज ही मोद मनाया मैंने,
अल्हड़, राजकुमारी जैसे इस चिंतारहित जीवन में।
हो सकता है, मन की दुर्बलता दिखलायी मैंने,
अथवा धैर्य, मानिनी जैसी शक्ति समाई मन में।

किया भरोसा नासमझी से, झूठी बातें मान,
फिर भी जब चीन्हा मिथ्याशय, नहीं किया अपमान।
सिर्फ़ फेर लीं आंखें अपनी, यही श्रेयस्कर जान
उसका पश्चाताप न दीखे और बनी रहूं अनजान।

द्वार बंद जब करने होते, खुले सदा मैं रखती,
नहीं किसी के पीछे चलती, शंकित कभी न रहती।
विपद-हानि अपनी आत्मा की गर्व सहित मैं सहती,
गोपन मन में सदा संजोये कभी न दोष समझती।

जहां उचित था कहना "रुकिये!", "जाओ!" कहा सदा ही,
नहीं कभी दौड़ी मैं पीछे, नहीं बनी मैं दासी।
जो भी मिला उसे नित फेंका, चाहा नहीं कदापि,
मैं खिल-खिल कर हंसती रहती, जहां इष्ट थी रुलाई।
जीवनयापन किया सहज ही मोद मनाया मैंने,
अल्हड़, राजकुमारी जैसे इस चिंताहीन जीवन में।
हो सकता है, मन की दुर्बलता दिखलायी मैंने
अथवा धैर्य, मानिनी जैसी शक्ति समाई मन में।

*

गीत हमारे पत्थरों का

ओ पत्थरो,
ओ इतिहास के प्रतीको!
हमें दुर्भाग्य मिले, भोगी ग़रीबी की यातनाएं।
हमने शोक-भवन बनाये,
अंधकार के स्मृतिचिह्नों जैसे।
कारीगरों की आंखें बेबसीभरी थीं,
खून और पसीने से सनी थीं!
थे दीवारों के ये पत्थर काले,
हमारे भाग्य जैसे।
काले चिन्तामग्न मठ ये हमारे
और ये मन्दिर पुरातन भी काले।

मेरे आर्मीनिया की मुखाकृतियां हैं जो
ये मार्ग-चिन्ह हैं।
ओ म्लान पत्थरो, शोक पत्थरो,
फ़र्शों,
छतों
और दीवारों के,
गंदे, चीकट और काले —
धुएं से,
हथेलियों और घुटनों की रगड़ से!
पर नहीं, कहीं हर्षोल्लास के सूचक,
बहुरंगी पत्थर भी थे —
जादुई पत्थर,
शान्त कोनों में विस्मृत पड़े,
धरती की गोद में छिपे,
पत्थर ख़ुशी के,
राख के ढेर में दबे जैसे हों शोले!
ओ पत्थरो,

बैंजनी औ नीले रंगों के!
तुम धरती के अंधेरे गर्भ से निकल चुके हो—
तुम्हें अंधकार में रहना नहीं है!
ऊपर,
धरती पर,
लोगों के बीच तुम आ चुके हो—
और धरती और भी प्रसन्न हो उठी है!
और वासन्ती रंग में सज उठी हैं दीवारें—
जैसे रंगमय हमारे वासन्ती दिन।
मेरे आर्मीनिया का सम्पूर्ण भाग्य
मानो इन्हीं पत्थरों का भाग्य है!
अपने दयालु हाथों से
प्रबुद्ध किया है
नवयुग ने इन्हें,
ओ पत्थरो, गुलाबी पत्थरो,
बैंजनी औ नीले रंगों के!

*

* सुयुनबाई एरालीयेव (जन्म १९२१) *



क्रिर्गिज कवि सुयुनबाई एरालीयेव का जन्म व पालन-पोषण उच-एमगेक क्रिर्गिज गांव में हुआ था। १९४१ में माध्यमिक शिक्षा पूरी करके वह सीधे मोर्चे पर चले गये। उन्होंने कविताएं लिखना मोर्चे पर ही आरंभ किया।

१९४९ में उनका पहला कविता संकलन 'प्रथम राग' प्रकाशित हुआ। अब तक एरालीयेव की बीस से अधिक पुस्तकें क्रिर्गिज और रूसी भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका झुकाव महाकाव्य एवं जनसाधारण के श्रम विषयक काव्य-लेखन की ओर है। उनकी रचनाओं में 'आक-मेयोर' शीर्षक लम्बी कविता का विशेष स्थान है, जिसमें क्रान्ति से पहले की नारी के दुखी जीवन का और मानव-प्रेम की असीम शक्ति का वर्णन हुआ है। सातवें दशक में एरालीयेव ने अंतरिक्ष के विजेताओं के विषय में 'लज्जित तारे' और 'सितारों की ओर' नामक दो बृहत कविताएं लिखीं।

सुयुनबाई एरालीयेव सोवियत क्रिर्गिजिस्तान के लेखक संघ के प्रबंधक-मंडल और अफ़्रीकी-एशियाई लेखकों के साथ एकजुटता की सोवियत समिति के सदस्य हैं।

*

इस्सिक-कूल आत्मा है
मेरी प्रिय जन्मभूमि की।
विदा लेते चांदनी छायी धरती से
आदमी ने सौंप दी इस्सिक-कूल को
अपनी आत्मा पूरी
और प्यार इस जीवन से
और शब्द विदाई के...

इस्सिक-कूल एक प्याला है,
लबालब भरा हुआ
आंसुओं से और आहों की आवाज़ से।
वह सदा गतिमान है।
उसकी गहराइयों में
जन्म लेती लहरें
टकराती हैं किनारों से,
जैसे अमर आत्मायें।
और उनसे मिलने को उड़ती हैं
विस्मय की चीखें:
"देखो, कैसी तरंगें हैं!"
पर कोई नहीं जानता
कि भारी लहरें लिखित पंक्तियां सी
अनन्त इतिहास हैं हमारी धरती का...

मेरी संतति!
नील लहर को,
जो गिरेगी तुम्हारे पैरों पर

श्वेत झाग की चादर ओढ़े,
पुकारना उसे
कवि की आत्मा नाम से...

*

आशा

जब थकता हूं
आशा की टेक लिये
खड़ा होता हूं–
जैसे सहारा हो प्रिय के कन्धों का।
आशाएं!
एक मारती है,
उसकी जगह दूसरी–
चांद सी तैरती आ जाती है
और परिक्रमा करने लगती है मेरी।
कच्ची आशायें भी हैं,
उन्हें मैं पकने छोड़ देता हूं।
पकी आशा को हौले से तोड़ता हूं।
उनका रसास्वादन करता हूं,
(कैसी मधुर हैं वे!)
और रसास्वादन में ध्यान नहीं देता
कैसे वे एक के बाद एक खून करती हैं
सौभाग्यमय दिनों का।

*

अतीत को जीवित करते क्षण

कुछ कहने के पहले
आज विजय के दिन,
मैं देर तक चुप रहता हूं,

जैसे सुनता हूं तुमुल रण-नाद,
दूर अतीत का...
मैं लड़ने चला गया था
छोड़ कर तुझे और वसन्त को...
और चार घनघोर गर्जन के साल,
सत्य और कर्त्तव्य के पौरुष से भरे,
खड़े होते हैं मेरे सामने,
समाये एक, एकमात्र क्षण में।

चित्रों के बाद चित्र...
विधवा मां
विदा करती है प्रिय बेटे को।
और पिता
चिपकाता है वक्ष से निज सुत को...
यह शुरुआत ही थी।
और आगे –
सीलन अन्धेरी खन्दकों की,
पन्ने अधलिखे पत्रों के
और मित्र की कब्र पर
पंखुड़ियां मैदानी फूलों की,
और बन्दूकों की सलामी विदाई की,
और यादें, उसकी।
ओह, सैनिक का सपना!

जैसे कि तू आती है, रोती,
और देख प्रिय निगाहें
डूबता है मेरा दिल...
हठात्, टूटता है सपना,
विस्फोट –
पास ही गोले का फटना।
और फिर –
सूखा गला

लम्बे युद्ध के बाद
दोतरफ़ा मार खाती
तटस्थ ज़मीन पे,
नाले में जंग लगा फ़ीता
पानी का,
तू झपटता है उस ओर,
पीता है,
जैसे पहाड़ी झरने का पानी हो!

साल ब साल
स्पष्ट और स्पष्ट होते हैं
चित्र
उन दिनों और रातों के।
निर्मम यादें मेरी
छीन ले गयी हैं नींद मेरी,
बिस्तर से बार-बार उठा देती हैं।
और कुछ कहने के पहले
आज विजय के दिन –
नौ मई को –
मैं देर तक चुप रहता हूं।

*

मैं चल रहा हूं

भविष्य,
आओ, परिचित हो लें!
बीसवीं सदी की चोटी पर
तू मुझे देखता है,
मुझे,
बीते समयों के वंशज को,
भावी संतति के पूर्वज को।

और समय कलरव करता है, नदी सा,
मैं चल रहा हूं।
मैं जवाबदेह हूं
कृत्यों के लिए
जो हमारे ग्रह पर किये जा रहे हैं।

मैं चल रहा हूं जमीं पर
और सितारों पर
और काल-रेखा पर,
और गगन पर...
और मेरी अविरलता पर
विस्मित है समय।
मैं चल रहा हूं बूट ठकठकाता,
पैरों तले
जैसे चकमक से
उड़ती हैं चिनगारियां।

मैं चल रहा हूं
और इर्द-गिर्द चौकड़ी भरते हैं बछेड़ों-से दिन।
मैं चल रहा हूं गीतों और तारों के बीच,
पुल पर शताब्दी के।
सूरज भावी कल की ज्योति से
प्रकाशित करता है मार्ग मेरा।
लगता भी ऐसा ही है—
हाथ बढ़ाने की देर है,
छू लोगे सूरज को।
मेरी फुसफुसाहट
सुन लेता है चांद।

मैं चल रहा हूं
और राह लम्बी है,

मुझे पुकारते हैं नुक्कड़।
पर कोशिश करो
रोकने की मुझे—
क्या अंजलि में पानी थम सकता है?
क्या पवन को लगाम लग सकती है?
यदि रुकूंगा, यदि हृदय थक जायेगा,
तो शून्य में
पृथ्वी का घूमना रुक जायेगा,
समय अथाह में विलीन हो जायेगा।
आख़िर मैं
और धरती
एक ही तो हैं...

मैं चल रहा हूं।
मैं बीज हूं
जिससे पनपेगा भविष्य!

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को
इस पुस्तक के अनुवाद और
डिजाइन के बारे में
आपकी राय जानकर और
आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर
बड़ी प्रसन्नता होगी।
अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें:

प्रगति प्रकाशन
१७, जूबोव्स्की बुल्वार
मास्को
सोवियत संघ

इस संग्रह में विभिन्न सोवियत जनतंत्रों के कवियों की कवितायें प्रस्तुत हैं। पुस्तक के लिए निम्न पंक्तियां आदर्शवाक्य सिद्ध हो सकती हैं :

"मैं बना हूं युग-प्रतीक
मेरे शब्द हैं उसकी वाणी।"

प्रस्तुत संग्रह में जार्जियाई इराक्ली अबाशीद्ज़े, तुर्कमान बेर्दी केरबाबायेव, आज़रबैजानी रसूल रज़ा, बाश्कीर मुस्ताई करीम, ताजिक मिर्ज़ा तुर्सुनज़ादा, बल्कार कैसीन कुलीयेव, अवार रसूल हम्ज़ातोव, कबार्दिन अलीम केशोकोव, उज़्बेक कवयित्री ज़ुल्फ़िया व आर्मीनियाई कवयित्री सील्वा कपुतिक्यान की रचनाएं सम्मिलित हैं।

संग्रह में सुप्रसिद्ध रूसी कवि निकोलाई तीख़ोनोव, येव्गेनी दोल्मातोव्स्की और मिख़ाईल लुकोनिन की पूर्वी जनगण के प्रति मैत्री को समर्पित कविताएं भी सम्मिलित हैं।

साथ ही प्रत्येक कवि का चित्र और संक्षिप्त जीवनी भी दी गयी है।

कविताओं का संकलन कवि शौकत नियाज़ी ने किया है।

*

Rs 3/00